नानक सिंह

प्रतिनिधि रचनाएँ

पंजाबी दो

*

भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन

पंजाबी साहित्यकार
नानक सिंहकी स्व-संकलित
प्रतिनिधि-रचनाओंका
संग्रह

० ० ० ०

राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला

• •

भारतीय ज्ञानपीठके समस्त प्रकाशनोंसे और संस्थाकी गतिविधिसे जो परिचित हैं वे जानते है कि ज्ञानपीठने हिन्दी प्रकाशनके क्षेत्रमें एक व्यापक साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोणको निष्ठापूर्वक अपनाया हैं।

पालीमे 'जातकट्ठ कथा' तमिलमे 'थिरुकुरल', हिन्दीमे 'वैदिक साहित्य' और नागरी लिपिमें उर्दूके समूचे संकलनीय काव्य-साहित्यको प्रस्तुत करनेके मूलमे देशकी सांस्कृतिक उपलब्धिको समग्र और अखण्ड रूपसे जानने-माननेकी दृष्टि है। अब 'लोकोदय ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत राष्ट्रभारती ग्रन्थमालाकी योजना इस दिशामे ज्ञानपीठका अगला पग है।

'राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत ज्ञानपीठकी योजना है कि भारतीय भाषाओके सभी प्रमुख लेखकोंकी रचनाओके अलग-अलग ऐसे सकलन प्रकाशित किये जाये जिनमे स्वय लेखकोके द्वारा चुनी हुई उनकी विविध शैली-शिल्पोमे लिखी सर्जनात्मक साहित्यकी 'प्रतिनिधि रचनाएँ' हिन्दी अनुवादके रूपमे सग्रहीत हो। इनके अतिरिक्त इसी ग्रन्थमालामे ऐसे 'प्रतिनिधि संकलन' भी प्रकाशित करनेकी योजना है जो समग्र भारतीय साहित्यमे कहानी, कविता, एकांकी आदि प्रत्येक विधाकी साहित्यिक

उपलब्धिको दरशा सकें और, इस दृष्टिसे, जिनमे विभिन्न भारतीय भाषाओके लेखकोकी श्रेष्ठ रचनाएँ सम्मिलित होगी। प्रसन्नताकी बात है कि इस योजनाके लिए भारतके सभी मूर्धन्य साहित्यकारोका सहयोग ज्ञानपीठको प्राप्त हुआ है।

इस ग्रन्थमालाके माध्यमसे देशके साहित्यकार स्वयं तो एक मंचपर आयेंगे ही, पाठकोको विशेष लाभ यह होगा कि सभी ख्यातिप्राप्त लेखको-की बहुमुखी साहित्यिक प्रतिभासे परिचित होगे और कुछ अनुमान लगा पायेगे कि देशमे समसामयिक साहित्यका स्वर क्या है, स्तर क्या है, उपलब्धि क्या है, और यह कि देशके साहित्य-समीक्षक इस प्रकारकी रचनाओको विश्व-साहित्यकी समान शैली-शिल्पवाली रचनाओकी तुलनामे क्या स्थान देते है, या कमसे कम यह कि भारतीय भाषाओमे इस प्रकार-के साहित्यका तुलनात्मक मूल्याकन क्या जानकारी प्रस्तुत करता है। यह अवश्य है कि किसी निष्कर्षपर पहुँचनेसे पहले पाठको और समीक्षको-को यह बात ध्यानमे रखनी होगी कि इस प्रकारके स्फुट सकलनोके आधारपर तुलनात्मक मूल्याकनकी अपनी सीमाएँ होगी।

इस ग्रन्थमालाका एक पक्ष यह भी है कि जो हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है और अन्ततोगत्वा जिसे इस रूपमे देशमे सभी प्रकारसे समादृत होना है, उसका साहित्य-कोश इस प्रयत्न-द्वारा समृद्ध हो। हमारी भावना है कि इसे हिन्दीकी ओरसे अन्य सहोदरी भारतीय भाषाओका अभिनन्दन-आयोजन भी माना जाये।

इस ग्रन्थमालाके द्वारा अनुवादके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षोपर विचार करनेका अवसर भी पाठको और समीक्षकोको मिलेगा। यह स्वयं एक राष्ट्रीय उपलब्धि होगी। इसका अर्थ यह कि अनुवादके रूप और प्रकृतिके सम्बन्धमे हम कोई विशेष आग्रह लेकर नही चलते—केवल इतना ही कि मूलका भाव सुरक्षित रहे और अनुवाद सुबोध हो। मुहा-वरो, शब्द-बन्धो और भाषा-प्रयोगोके क्षेत्रमे हिन्दीको अन्य भारतीय

भाषाओसे कुछ लेना है, लेना चाहिए, इस दृष्टिकोणको सामने रखनेके परिणाम-स्वरूप अनुवादमे यदि कही कुछ अप्रचलित या अटपटा-सा लगे तो वह इस दृष्टिसे विचारणीय है कि इसमें क्या ग्राह्य है क्या अग्राह्य यह निर्णय भाषाविद दे—विशेषकर वे जिनकी मातृभाषा वही है जो मूल लेखककी और साथ ही जो हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूपमे समृद्ध करनेकी क्षमता रखते है।

अबतक इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत छह संकलन प्रकाशित हो चुके है · पाँच 'प्रतिनिधि रचनाएँ' वर्गमे और एक 'प्रतिनिधि सकलन' वर्गमे। 'प्रतिनिधि संकलन' एकाकियोका है और जिसमे नौ भारतीय भाषाओका एक-एक प्रतिनिधि एकाकी सम्मिलित किया गया है। 'प्रतिनिधि रचनाएँ' नार्ल वेंकटेश्वर राव (तेलुगु), परशुराम (बगला), व्य० दि० माडगूलकर (मराठी), कर्तारसिंह दुग्गल (पजाबी), और प्रो० ना० सी० फडके (मराठी) की प्रकाशित हुई है। यह अब इसी वर्गमे एक और प्रस्तुत है . पंजाबीके वरिष्ठ साहित्यकार नानकसिहकी प्रतिनिधि रचनाएँ।

ग्रन्थमालामे किस सकलनका प्रकाशन पहले हुआ और किसका बादमे, यह केवल सयोगकी बात है। इसे मात्र मुद्रण-क्रमकी बात माना जाये। जिन अन्य साहित्यकारोकी कृतियाँ इस ग्रन्थमालामे आयोजित हैं वे सब मूर्धन्य लेखक और कवि है। साहित्यमे किसका क्रम कहाँ है, यह निश्चित करना समीक्षकोका कार्य है।

भारतीय भाषाओमें साहित्यिक कृतित्वकी श्रेष्ठताका प्रश्न भारतीय साहित्यके मानदण्डका प्रश्न है। उसके लिए भारतीय ज्ञानपीठकी एक अलग योजना है जिसके अनुसार प्रतिवर्ष भारतीय साहित्यकी सर्वश्रेष्ठ कृतिको एक लाख रुपयेके पुरस्कार-द्वारा सम्मानित किया जायेगा : कृतिकारके प्रति कृतज्ञता ज्ञापनार्थ।

— लक्ष्मीचन्द्र जैन

कुछ अपने
कुछ संकलनके बारेमें

●

जब कभी मै अपने विगत जीवनपर दृष्टिपात करता हूँ तब सोचने लग जाता हूँ कि आखिर वह क्या था जिसने एक निराश्रय और अनपढ बालकको 'शून्य' से बदलकर 'कुछ' बना दिया ? और सोचते-सोचते मै इस परिणामपर पहुँचता हूँ कि मेर अन्दर एक ऐसी चोज़ थी जिसने यह चमत्कार दिखलाया, और वह चीज़ थो मेरी तीक्ष्ण बुद्धि या फिर स्मरण-शक्ति जिसके बलबूते मैंने बिना किसी स्कूल-कॉलेजका सहारा पाये न केवल पजाबी, उर्दू, फारसी, हिन्दी, अँगरेज़ी भाषाएँ सीख ली बल्कि १२ वर्षकी उम्रमे टूटी-फूटी कविता लिखने लगा और २० की उम्र तक पहुँचते मेरी एक दर्जन कविता-पुस्तके पजाबीमे प्रकाशित हो चुकी थी ।

यह तो हुआ, मगर क्या कुछ और भी ऐसा न था जिसने तबसे लेकर अबतक ५० के लगभग उपन्यास मुझसे लिखवाये ? इसके उत्तरमे यही कहूँगा कि जीवनकी कटुताओ और कष्टोके निरन्तर बवण्डरोने मुझे इतना झकझोरा, इतना आन्दोलित किया कि मेरे भीतर एक आग-सी पैदा हो गयी, जिसने एक ओर तो मेरा कितना ही कुछ जला डाला मगर दूसरी ओर उसीकी गरमीमे मेरे अन्तरकी परते पिघलती चली गयो और उस क्षीण प्रकाशमे सबसे नीचेकी वह परत दिखने लगी जो शायद सारी उम्र पढनेपर भी न दिख पाती । जैसे उस आगने प्रसादके रूपमे मुझे एक दूरबीन, एक खुर्दबीन, प्रदान कर दी जिसके द्वारा अब अपने

आस-पासके सारे जीवन और समाजकी मामूली बातोंमें भी कोई-न-कोई रहस्य छिपा हुआ दिखाई देने लगा।

होश सँभालनेके वक़्तसे लेकर जवान होने तक मेरे सामने कितनी ही बड़ी-बड़ी घटनाएँ गुज़र गयी। कितनी बार मैंने हिन्दू-मुसलिम फसाद होते देखे, जालियाँवाला बागका हत्याकाण्ड देखा, अकाली आन्दोलनके समय गुरुद्वारा ननकाना साहबमे महन्तो-द्वारा चार सौके लगभग अकालियोका ज़िन्दा जलाया जाना देखा, सिखो और हिन्दुओमे जूतियो दाल बँटते देखी, और सबके अन्तमे सबसे बढकर सन् १९४७ के रक्तपात और अग्निकाण्ड देखे जिनसे बरबस लगता कि मनुष्य अब मनुष्य तो नही रह गया।

जैसे-जैसे यह सब मै देखता गया वैसे-वैसे ही मेरे भीतर एक बोझ, एक दर्द-सा, जुडता और जमता गया। अपना सारा अस्तित्व ही मुझे अब पथराता हुआ-सा जान पडने लगा, जो किसी करवट मुझे चैन न आने देता। अचानक इस दर्द और पथरायी पीडासे उद्धार पानेका एक उपाय मुझे सूझ आया ' कि लिखूँ। फिर तो जो मैंने लिखा वह यही सब जमा हुआ दर्द है जिसे लोगोने 'उपन्यास' नाम दे दिया है और अब मै भी ऐसा ही समझने लग गया हूँ।

हिन्दी संसारमे प्रविष्ट हुए मुझे अधिक समय नही हुआ है, पर इसकी अभिलाषा बहुत समयसे चली आ रही थी। बहुत बार मनमे सोचा करता कि यह जो इतना-इतना कागज़ काला किये चला जा रहा हूँ यह क्या मात्र पजाबके लिए ? यदि मेरे इस तमाम परिश्रमका ध्येय समूचा देश है तो यह केवल पंजाबकी चारदीवारीमे ही क्यो सीमित रहे ? और कुछ समय लेकर अन्तको शेखशादीका वह कलाम सच्चा उतरा कि कस्तूरी अपनी महकसे पुकारेगी ही और एक हिन्दी प्रकाशकने 'पवित्र पापी' प्रकाशित करनेके लिए लिया। फिर तो और भी पुस्तकें प्रकाशित हुई। इसके बाद तो धीरे-धीरे मैंने यह नियम-जैसा बना लिया कि जो भी

उपन्यास लिखूँ वह हिन्दी और पंजाबी दोनोंमें साथ-साथ। इस समय तक हिन्दीमे मेरे दो दर्जन उपन्यास आ चुके है, जिनमें कुछ हिन्दीमे लिखे गये, बाकी सब पंजाबीसे अनूदित होकर आये।

इस सकलनमे मैंने अपनी कुछ रचनाओके अश प्रस्तुत किये है। यह इस अभिप्रायसे मैंने नही किया है कि अपनी कलात्मक सूझ-बूझका प्रदर्शन करूँ। मेरा अभिप्राय केवल यह दरसाना है कि विगत पचास वर्षोंमे हमारे देश और समाजमे जैसे-जैसे परिवर्तन हुए उनके अनुरूप ही मेरी लेखन-प्रवृत्तिमे भी मोड आये। प्रत्येक मोडपर मुझे कुछ नये अनुभव हुए और नयी प्रेरणाएँ मिलीं। ये प्रेरणाएँ मेरी चेतनाको स्पन्दित करती रही, और अपने पाठकोको अपनी चेतनाके इन स्पन्दनोसे परिचित करानेके अभिप्रायसे ही मैं लिखता गया। मुझे यदि कुछ गर्व है तो केवल इस बात-पर कि मैंने जितना कुछ और जैसा कुछ भी लिखा है वह ईमानदारीके साथ और भरसक यत्नपूर्वक। मै समझता हूँ कि यही गर्व और सफलता मेरे लिए पर्याप्त है : इससे अधिक मुझे कुछ नही चाहिए।

२० फ़रवरी '६४ — *नानक सिंह*
प्रीतनगर, अमृतसर

अनुक्रम

● ●

• जीवनमें घटित

ललित

१. मेरी माता
२. जीवनका पहला रोमान्स
३. डायरीके कुछ पन्ने

मेरी माता

अपनी सन्तानसे माँका स्नेह स्वाभाविक ही है। अत. यदि कोई पुत्र कहे कि उसकी माँ उससे बहुत प्यार करती है, तो यह वैसी ही बात होगी जैसे कोई कहे कि गुड मुझे बहुत मीठा लगता है। पर मेरी माँने न केवल मुझे वात्सल्य ही प्रदान किया, वरन् और भी बहुत-कुछ दिया है। इसी कारण मै अपनी माँपर सर्वसाधारणसे कुछ अधिक गर्व करनेका अधिकार समझता हूँ।

वे एक सम्पन्न खत्री परिवारमे पैदा हुई थी। अपने माता-पिताकी वे इकलौती सन्तान थी। उनकी बाल्यावस्था बडे सुख और ऐश्वर्यमे बीती थी किन्तु ससुरालमे आकर आरम्भिक कुछ वर्षोंके बाद उनका सारा जीवन कष्टोंमें ही व्यतीत हुआ।

सुख-दु ख तो शरीरके भोग ही है। यदि मेरी माँको भी अपने जीवन-का उत्तरार्द्ध कष्टोकी भट्टी झोंकते हुए गुजारना पडा तो इसमे अचम्भेकी कोई बात नही थी। पर जिस वीरता और दृढ विश्वाससे वह आजीवन कष्टोसे जूझती रही और अन्त तक अपने दुर्भाग्यको कभी नही कोसा, शायद ही वे हजारों, लाखोमे कही मिल सके।

उनका नाम लक्ष्मी देवी था और पिताजीका नाम लाला बहादुर-चन्द। बाप-दादोके समयसे ही पेशावरमे हमारा आढतका काम था। उस समय बहुत कम लोग अपनी पत्नियोंको पठानोके उस देशमे ले जाते। जेहलम, अब पाकिस्तान, मे चकहमीद नामक हमारा छोटा-सा गाँव था। शादीके बाद पिताजी एकाध बार अपने गाँवमें आते। अपनी कमाईका

कुछ भाग पत्नीके हाथमे घर देते। और कुछ दिन रुकनेके बाद वे फिर पेशावर लौट जाते। जब भी जाने लगते, पत्नीको इस बातका आश्वासन दिला जाते कि अगली बार जब आऊँगा तो तुझे साथ लिवा ले जाऊँगा। और माताजी उस अगली बारकी प्रतीक्षामें दिन और रात गिनती चली जाती। इसी प्रकार अगला, उससे अगला और फिर उससे अगला वादा गुजरता गया, और एकके बाद एक दस वर्षों तक यही क्रम चलता रहा। तब कही प्रतीक्षाका समय समाप्त हुआ और पिताजी उन्हें साथ लिवा ले गये। तबतक उनकी तीन सन्ताने हो चुकी थी। सबसे बडा मै था, मुझसे छोटा एक भाई, उससे छोटी एक बहन।

उन दस वर्षोंके बीच जब भी पिताजी गाँव आते तो पेशावरके सम्बन्धमे माताजीको बडो अनोखी बाते सुनाया करते। विशेषतः ये तो वे बार-बार दोहराते कि वहाँपर अनार, अगूर और दूसरे फल इतनी बहुतायतसे पैदा होते है और इतने सस्ते बिकते है जैसे यहाँपर मूली-शलगम।

और फिर एक दिन माताजी अपने तीनो बच्चोको साथ लेकर उसी अनारो और अगूरोकी धरतीपर जा पहुँची। पर दो वर्ष गुजरते-गुजरते हमारे भाग्य फूटे, पिताजीका साया सिरसे उठ गया, और अनारो-अगूरोकी बात तो दूर रही, हम लोगोके लिए रोटीका टुकडा भी दूभर हो गया।

चैत्र मासका अन्तिम पक्ष था। तीन सन्तानोकी माँ एक और सन्तानको जन्म देनेके लिए प्रसव-शय्यापर पडी थी और बगलवाली चारपाईपर निमोनियासे ग्रस्त उसका पति छटपटा रहा था। रातको तीसरे पहर एक चारपाईपर पुत्रने जन्म लिया और दूसरेपर पडे-पडे पतिने परलोकको राह ली।""जन्म-सस्कार और मृत्यु-सस्कार एक ही मुहूर्तमे हुए।

इधर यह हुआ, और उधर मेरे चाचाने, जो शायद पहलेसे ही घात लगाये बैठे थे, रातो-रात हमारा सारा धन व जेवर हथिया लिया।

रोकने-टोकनेवाला कोई था नहीं और फिर चोर भी तो कहीं बाहरसे नहीं आये थे। फलतः सवेरेका सूरज चढ़नेसे पहले ही हम लोगोंकी सोनेकी लंका स्वाहा हो गयी—धन भी गया और जन भी।

मैं उस समय नौ-दस वर्षका रहा होऊँगा। मुझे संसारके उतार-चढ़ावका कुछ भी पता नहीं था। और जब सत्रह-अठारह वर्षका हो जाने-पर आँखें खुली तो मैंने अपने चारों ओर दरिद्रता, निराशा, विश्वासघात और चिन्ताकी परछाइयाँ देखीं।

माताजी अगणित गुणोंसे परिपूर्ण तो थी ही, पर सबसे बड़ा गुण उनमें यह था कि भगवान्ने उन्हे पुरुषोका-सा सबल मन दिया था। चाहे कितनी ही आपत्तियाँ सिरपर आ पड़ें, घबराहट या चिन्ता नामकी चीज उन्हे छू तक नही जाती थी। और उससे भी बड़ा एक और गुण था उनमें, घरमें चाहे कितनी ही गरीबी हो, दूसरोंकी सहायता करनेसे वे कभी भी चूकती नहीं थी। मुझे याद है जब वे अपनी ड्योढ़ीमे बैठकर चरखा कातती होती तो पीढ़ेके पास आटेकी एक डलिया भरकर रख लेती थी कि द्वारपर आया हुआ कोई अतिथि खाली न लौट जाये।

नौ-दस बरसकी उम्र ही क्या होती है। क्या इतनी छोटी उम्रमे कोई बालक दूकानदारी कर सकता है? पर माताजी थी कि अपने स्वर्गीय पतिकी गद्दीको त्यागनेका नाम नही लेती थी। जब कभी कोई बड़ा-बूढ़ा उनसे कहता—"लक्ष्मी, दूकान बेंच-बाँचकर, बच्चोंको लेकर वतन क्यों नहीं चली जाती।" तो उनका उत्तर होता—"स्वामीकी यादगारको कैसे मिटा डालूँ। लड़के सयाने हो जायेंगे तो उसे सँभाल ही लेंगे।"

अपने सात और नौ वर्षके दोनो पुत्रोंके साथ वे दूकान आकर बैठ जातीं और सयाने बापकी तरह उनके काम-काजमें सहायता करती रहतीं।

सालपर साल बीतते चले गये, काम-काजमें उत्तरोत्तर शिथिलता आती चली गयी, पर माताजीने अपने हठको नहीं त्यागा। अन्तत. जब हम दोनो भाई सयाने हो गये—क्रमशः १५-१९ वर्षके—तो हमारा काम-काज कुछ-कुछ चल निकला।

दूकानदारीके काममे मुझे आरम्भसे ही रुचि नहीं थी। पर मेरा छोटा भाई मंगलसेन इस काममे खूब दक्ष निकला। और शनैः-शनै. दूकानका सब काम उसीपर छोडकर मै निश्चिन्त हो गया और धार्मिक कामोमे भाग लेने लगा। तबतक मै एक छोटा-मोटा कवि और एक तुच्छ-सा संगीतकार भी बन चुका था। प्रोत्साहन मुझे कहाँ-कहाँसे मिला, इस सम्बन्धमे आगे चलकर बतलाऊँगा।

माताजीके आत्म-सयम और बलिदानका ''उनके नारीत्वका एक सबसे बडा चमत्कार जब मैंने देखा तो सच कहता हूँ ससार-भरकी स्त्री जातिके लिए मेरे हृदयमे श्रद्धा और सहानुभूतिके स्रोत उमड आये। मुझे दुःख है कि उस घटनाके साथ एक ऐसे नर-पिशाचका नाम आता है जो दुर्भाग्यवश मेरा निकट सम्बन्धी था—मेरा ताऊ।

एक नही, दो नही, उत्तरोत्तर पाँच वर्ष तक मेरी माँ उस दैत्यकी लम्पट कामनाओसे अपने नारीत्वकी रक्षा करती रही। पर अन्तमे एक दिन वह दुराचारी जब हाथ धोकर ही उनके पीछे पड गया तो माताजीने कोठेसे छलांग लगा दी — उनकी दोनो टाँगे घुटनोके नीचेसे टूट गयी। माँ उसी दिनसे अपाहिज होकर खाटपर पड गयी। और पूरे तीन सालके बाद जब खाट छोडी तो अरथी तैयार थी। सबसे बडी हैरानीकी बात तो यह कि अपने अन्तिम श्वास तक भी माताजीने इस रहस्यको प्रकट नही होने दिया—सब लोग इतना ही जानते थे कि एक रात मुँडेरसे उनका पाँव फिसल गया था।

अपने जीवनमे मैंने बहुत-कुछ खोया भी और बहुत कुछ पाया भी। पर सबसे अमूल्य धन जो मैंने खोया वह मेरी माँ थी। और सबसे बहु-

अमूल्य निधि जो मुझे प्राप्त हुई वह था मेरी माँका आशीर्वाद ।

मेरे दूसरे बहन-भाई माँकी ओर कम ही ध्यान देते थे । पर न जाने क्या कारण था कि अपनी पंगु माँकी सेवाके अतिरिक्त मुझे कुछ सूझता ही नही था । यहाँतक कि उनके जीवनके अन्तिम दिनोंमें उनका मल-मूत्र भी मुझे ही उठाना पड़ता । उनके पैरोकी हड्डियाँ ठीक हो गयी थी, पर खूनका दौरा पूरी तरह न चल सकनेके कारण उनके पाँव टेढे हो गये थे । अन्तिम दिनोमे तो इतनी सूजन बढ गयी थी कि पाँव हिल-डुल नही सकते थे ।

जाडेके दिनोमे तो उनका दर्द बहुत बढ जाता था । आधी-आधी रात तक मैं रूई गरम कर-करके उनके तलवो और पाँवोको गरमानेमे लगा रहता, जब कि मेरे दूसरे भाई-बहन आरामसे सो रहे होते । मेरी इस क्रियासे जब कभी माताजी बहुत विभोर हो उठती तो गद्गद कण्ठसे कहने लगती—"हंस, तू राज करेगा मेरे लाल—तेरे सिरपर छत्र झूलेगा, बेटा ।"

और फिर एक दिन—मरनेसे कोई चार-पाँच दिन पहले इसी प्रकार-की एक ठण्डी रातमे जब मैं उनके तलवोको गरमा रहा था, उन्होने अपनी बीमारीका, अपने पगु होनेका रहस्य मुझपर खोल दिया । और साथ ही इतना और भी कह दिया—"हस, अगर तू मेरा बेटा है, तो इस कुकर्मीको क्षमा कर देना । भगवान्से भी मेरी यही प्रार्थना है कि वह उसे क्षमा करे ।"

आज इन पक्तियोको लिखते समय जब कि मेरी उम्र ७१ वर्षको हो चुकी है – मैं सोचता हूँ माताजीका वह वरदान मेरे लिए शत-प्रतिशत यथार्थ सिद्ध हुआ है—नही तो क्या यह सम्भव था कि कुल पाँच जमाते पढ़ा हुआ एक व्यक्ति आज उपन्यासकारके रूपमे दिखाई देता ? भले ही मै राजा नही हो पाया हूँ, और न ही मेरे सरपर झलमल करता हुआ छत्र कभी झूला है, पर क्या यह उससे कम है कि साहित्य-ससारने और आम

जनताने मुझे हृदयके सिंहासनपर बैठाया और मेरे मस्तकको अपने अनुग्रह-के छत्रसे सुशोभित किया !—विधाताने मुझे सुशील और धर्मज्ञ पत्नी प्रदान की, पाँच आज्ञाकारी पुत्र और एक देवी तुल्य कन्याकी प्राप्ति करायी। क्या यह सब मेरी उस सती-साध्वी माताके आशीर्वादका ही फल नहीं है ?....

●●

जीवनका पहला रोमान्स

बाल्यावस्था पार कर यौवनकी देहलीपर पाँव रखा ही था कि एक लडकीने मेरे जीवनमे प्रवेश किया। आज न तो वह लडकी इस ससारमे है न उसका कोई निकटका सम्बन्धी हो। फिर भी मै उसका नाम बतानेका साहस नही कर सकता। यद्यपि मेरे जीवनपर आज भी उसकी छाप ज्योकी त्यो मौजूद है, फिर भी सामाजिक तौरपर वह मेरी कोई नहीं थी। फिर मुझे उसका नाम बतानेका क्या अधिकार है ? वैसे उसका नाम 'स' अक्षरसे शुरू होता था। मान लीजिए, उसका नाम सावित्री था।

सावित्री कैसी थी, उसका रूप-रग कैसा था और उसका आकार-प्रकार किस ढगका था ?—यदि मै भूलता नहीं तो किसी समय मुझसे एक महान भूल हो गयी थी। आजसे पन्द्रह वर्ष पहले मैंने एक उपन्यास लिखा था 'अधखिला फूल' जिसकी नायिकाका नाम था सरोज। मुझे लगता है जिस समय मै सरोजका चरित्र-चित्रण कर रहा था अवश्य ही सावित्री-की आकृति मेरे सामने रही होगी। आज जब मै सरोज और सावित्रीका मिलान करके देखता हूँ तो उन दोनोंकी रूप-रेखामे मुझे रचमात्र भी भेद नही दीख पडता।

सावित्रीका और हमारा घर पास पास पडते थे। केवल एक घर बीचमे पडता था। उसके पिता एक सरकारी दफ्तरमे काम करते थे। सावित्रीकी माँ उसके बचपनमें ही चल बसी थी। घरमें केवल तीन व्यक्ति थे—सावित्री, उसके पिता और उसकी एक विधवा बुआ। सावित्री अपने पिताको 'भापाजी' कहकर पुकारती और उसकी देखा-

देखो मैं भी उनके लिए यही सम्बोधन काममे लाता। सावित्री न केवल मातृ-हीना थी, बल्कि बाल-विधवा भी थी। अपने बापकी इकलौती सन्तान। सावित्रीके पिता और बुआ सगे भाई-बहन होनेके बावजूद स्वभावमे एक दूसरेसे बिलकुल भिन्न थे। पिता जितने सन्त-स्वरूप थे, बुआ उतनी ही कर्कशा, मुँहफट और झक्की। बेचारी सावित्री दिन-भर काम करते-करते थककर चूर हो जाती, पर बुआके पास उसके लिए गालियोके अतिरिक्त और कुछ न था। वैसे बुआ बडी धर्मभीरु थी। जब देखो माला उनके हाथमे फिरती रहती और होठ उनके हिलते रहते। छूआछूतकी तो उनपर सनक सवार थी और इस सनकका शिकार होना पडता था सावित्रीको। चाहे कितनी ही ठण्ड क्यो न हो, बे-नागा उसे घर लीपना पडता।

उन दिनो पेशावरमे मै अपने छोटे भाईके साथ दूकान करता था। सवेरे खाना खाकर जाता तो शामको ही लौटता। कभी-कभी काम-धन्धा करता हुआ मै सावित्रीकी बात सोचने लग जाता। मुझे बडा आश्चर्य होता यह सोचकर कि जब घरमे कुल तीन ही प्राणी है तो कहाँसे इतना काम आ पडता है कि सावित्री उसे दिन-भरमे भी निबटा नही पाती। एक दिन यही जिज्ञासा मैने माँके सामने ज़ाहिर की तो उन्होने कहा, "बेटा! काम तो ऐसा कुछ नही होता, और सावित्री भी तो मशीनकी भाँति काम करती है। बात असलमे यह है कि बुआ नही चाहती कि सावित्रीको किसी भी समय अवकाश मिले। उन्हे इसी बातका डर लगा रहता है कि बेकार रहकर विधवा लडकी कही बिगड न जाये।" माँके मुँहसे यह नयी बात सुनकर मेरे मनको बहुत कष्ट हुआ। बुआके प्रति मेरी नफरत और भी बढ गयी। पर मेरे पास सिवा इसके और चारा ही क्या था कि जब भी गुरुद्वारे जाऊँ तो गुरु महाराजके आगे मस्तक झुकाकर प्रार्थना करूँ—हे सतगुरु! इस बुढिया चुडैलको धरतीपर-से उठा लें।

सावित्रीके वैधव्य-कालके बारेमे मुझे अब अधिक कुछ याद नही रहा,

केवल इतना ही याद है कि उसका सिर मुडा दिया गया था। बचपनसे हम दोनो इकट्ठे खेलते चले आ रहे थे। सावित्रीकी शक्ल-सूरत मुझे बहुत भाती थी। गुडिया-सी सावित्रीके सुनहले केशोसे तो मुझे बहुत प्यार था। जब मैंने उसका सिर मुँडा देखा तो न जाने मेरा मन कैसा होने लगा। लेकिन थोडे दिनोमे ही सावित्रीके केश फिर नये सिरेसे उगने लगे। जैसे-जैसे उसके केश बढते जाते थे उसी मात्रामे मेरी दिलचस्पी भी बढती चली जा रही थी। सावित्रीके घरमे मेरा आना-जाना शुरूसे ही बेरोक था। पर उसके वैधव्यके बाद तो वह और भी बढ गया। पहले यदि मैं दिनमें एकाध बार जाता तो अब सुबह-शाम दोनो वक्त जाने लगा।

डेढ-दो वर्ष बीत गये। इस छोटे-से अरसेमे कई परिवर्तन हुए। सबसे बड़ा और सुखद परिवर्तन तो यह कि सावित्रीकी वह कर्कशा बुआ चल बसी। न जाने यह मेरी प्रार्थनाओका फल था या भगवान्को बुआकी जरूरत आ पडी थी। लेकिन दूसरा और उससे भी अधिक सुखद परिवर्तन जो हुआ वह यह कि सावित्रीके घने और सुनहले केश उतने ही लम्बे हो गये थे जितने देखनेकी मेरी अभिलाषा थी। केशोके अतिरिक्त सावित्रीके स्वभावमे भी परिवर्तन दीखने लगा और उसके रूप-रगमे भी। अब वह पहलेसे कही अधिक गम्भीर दिखाई देती थी और यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती थी। उसकी बातचीतमे माधुर्य बढ गया था। उसकी आँखोमे कुछ ऐसा आकर्षण उत्पन्न हो आया जो पहले नही था। उसके अगोमे लुनाई आ गयी थी और व्यवहारमे स्नेह। कह नही सकता कि दूसरे लोगोकी नज़रोमे भी ऐसा ही लगता था या केवल मुझे ही। जो भी हो, यह कहनेमे मुझे ज़रा भी सकोच नही कि सावित्री अब मेरे जीवनका एक भाग बन गयी थी—मेरे अन्तरके किसी अभावकी पूर्ति, मेरे स्वप्नोकी सम्राज्ञी।

पर इतना होनेपर भी सावित्रीकी एक बात मुझे अखरती थी। और वह थी—दिनो-दिन पीला होता जाता उसके चेहरेका रग। उसका शरीर

पहले भी भरा हुआ नहीं था। पर इतनी दुर्बलता भी क्या कि सीढ़ियाँ चढ़नेसे दम फूल जाये और उठते-बैठते समय घुटनोंपर हाथ टेकने पड़ें। क्या यह वही सावित्री थी जो सवेरेसे रात तक काममें जुटी रहती थी और उसपर भी थकनेका नाम नहीं लेती थी? और अब तो भापाजीने उसकी मददके लिए एक मुंडू (नौकर) भी रख लिया था। और फिर अब बुआ भी नही थी कि बेमतलब ही उसे काममे फँसाये रखतीं।

सहसा सावित्रीमें एक ऐसा परिवर्तन दिखाई देने लगा जिसने मुझे आश्चर्यमें डाल दिया। तब वह सत्रहवाँ पार कर चुकी थी। पता नहीं अचानक उसे क्या हो गया कि न तो वह पहलेकी तरह खुलकर बातें करती और न एकान्तमे मेरे पास अधिक देर तक बैठती ही। अब उसके व्यवहारमे मुझे पहले-जैसी आत्मीयता भी नही दीखती थी। हँसी-मजाक-की बात तो दूर, वह बात करनेसे भी कतराती। वह मुझसे संगीत सीखती, पर जितनी देर हम लोग हारमोनियमसे माथा-पच्ची करते रहते क्या मजाल कि सावित्री अपने उस प्रसंगको छोडकर दूसरी कोई बात करे। कितनी खोयी-खोयी-सी दीखने लगी थी वह अब। क्या वही सावित्री है यह, जो घण्टो मुझसे बातें करती रहती और पीछा नही छोडती थी? मैं समझ नही पा रहा था कि आखिर वह किस बातपर मुझसे नाराज़ है। और अगर है तो फिर पूछनेपर बताती क्यों नही? जब भी पूछनेका प्रयत्न करता तो वह एक ही गढा-गढाया उत्तर देकर मेरा मुँह बन्द कर देती, "हसा! तुझे तो वहमकी बीमारी हो गयी है।" और एक फीकी-सी मुसकान उसके मोतियो-जैसे दाँतोको निरावृत कर देती! इस नाराजगीका कारण पूछनेके लिए एक दिन जब मैं हाथ झाडकर उसके पीछे पड ही गया तो वह गम्भीर होकर बोली—"देख हंस! अब हम लोग सयाने हो गये हैं। और पगले! तू इतना भी नही जानता कि हमें पहले-की तरह हेल-मेल नहीं रखना चाहिए?"

तब उसकी बातोको मैं अच्छी तरह नही समझ सका था, पर आज

सोचता हूँ, सचमुच ही मैं पागल था, कि पन्द्रह-सोलह वर्षका हो जानेपर भी यह बात मेरी समझमें नहीं आ सकी थी! सावित्रीकी यह अनोखी बात सुनकर मैं क्रोध और क्षोभसे अधीर हो उठा और सोचने लगा—अगर हम लोग कुछ बडे हो गये हैं तो क्या हम लोगोंको आपसमें बोल-चाल बन्द कर देनी चाहिए? सावित्रीने यह क्या कह डाला? इसी बातको लेकर मेरे हृदयमें स्वाभिमान जाग उठा। मैंने उसी दिनसे सावित्रीके घर न जानेकी कसम खा ली।

ऊपर बता ही चुका हूँ कि क़रीब छह महीनोसे सावित्रीका स्वास्थ्य अच्छा नही चल रहा था। उसके भापाजीका भी यही विश्वास था। वैसे भी जब कभी मैं उसके घर जाता, सावित्रीके पलंगके पास दवाकी एकाध शीशी रखी हुई दिखाई पड जाती। यह सब देखते हुए भी मुझसे कभी इतना नही हो सका कि सावित्रीसे पूछ ही लेता कि उसे क्या तकलीफ है। क्या मेरे 'पागल' होनेका यह भी एक प्रमाण नहो था?

इसके बाद पाँच-सात दिन तक मैं सावित्रीके घर नही गया। जब कभी माँ इसकी वजह जानना चाहती तो मैं कार्य-व्यस्त होनेका बहाना बना देता। पर मेरा यह प्रयत्न कितना ओछा और अस्थायी सिद्ध हुआ! जितना ही मैं सावित्रीको भुलानेका प्रयत्न करता उतनी ही अधिक वह मेरे प्राणोमे बसती चली जाती। पर कुछ हठी होनेके कारण मैं अपनी बातपर अडा रहा। ऐसे ही एक दिन जब मैं दूकानसे घर लौटा तो माँ-ने कहा, "हस! रोटी आके बनाती हूँ। पहले ज़रा सावित्रीको देख आऊँ।" मै सोचमे पड गया। 'सावित्रीको देख आऊँ।'—तो क्या सावित्री बीमार है? मेरे पूछनेपर माताजीने बताया कि "बीमार तो वह काफ़ी दिनोसे चली आ रही है। पर इधर चार-पाँच दिनोसे तकलीफ कुछ बढ़ गयी है।" मैंने माताजीसे पूछा, "क्या उसके घरसे कोई सन्देशा आया है।" वे बोली—"सवेरे भइया आये थे।" (वे भापाजीको भइया कहती थी।) और जब माताजीने मुझे वह बात सुनायी जो भापाजी कह गये थे, तो

मैं धरतीमें गड गया। उन्होंने कहा, "भइया कहते थे, न जाने मुन्नी बचे या नही।"

उस दिन मैं खाना नही खा सका। माँके लौटते ही भागा सावित्रीके घरकी ओर। घरमें वह अकेली थी। पलंगपर लेटी हुई थी और उसका रुख दरवाज़ेकी ओर था। मुझपर नजर पडते ही करवट बदलकर उसने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

"सावित्री!"—पलंगके पास पहुँचकर मैंने पुकारा और पाटीपर बैठ गया। वह कुछ न बोली। उसने एक-दो बार खाँसा। "सावित्री!"—दूसरी बार आवाज़ देते हुए मैंने उसका कन्धा पकडकर अपनी ओर खींचनेका प्रयत्न किया। पर वह मुडी नही। उसने मेरा हाथ झटक दिया। तीसरी बार फिर मैंने वही किया। फिर भी वह टससे-मस नही हुई तो मैंने उसका शरीर बलपूर्वक अपनी ओर मोड लिया।

सावित्री फफक-फफककर रो रही थी।

मै गिडगिडाने लगा, "मुझे माफ कर दो, सावित्री। मुझसे भूल हुई।" मेरी गिडगिडाहटका फल उलटा ही हुआ। सावित्रीके आँसू और भी तेज़ीसे बहने लगे।

"तुझे मेरे सिरकी सौगन्ध है, सावित्री!" मैंने विचलित होकर कहा—"रो मत, इधर देख, मेरी तरफ।"

सावित्रीके आँसू थम गये। सिसकती हुई बाली, "हस! मैंने तेरा क्या बिगाडा था, सच बता।"

उत्तरमे मै कुछ नही बोल सका।

"हस! ऐसे भी कोई करता है भला। मैंने 'मैंने तो दोनोंके भलेकी बात कही थी।"

मै लज्जा और ग्लानिसे गडा जा रहा था। मेरे होठ और गला सूख रहे थे।

'मै अब जियूँगी नही, हस! पर तू मुझे तू मुझे…" इसके आगे

वह नहीं बोल सकी। इधर मेरा पछतावा पानी बनकर आँखोंमे समा नहीं रहा था। सावित्रीने जब मेरे आँसू देखे तो वह उठ बैठी और उसने मेरा ठण्डा हाथ अपने गरम हाथोमे ले लिया। मेरे मनमे बार-बार यही आ रहा था—सावित्रीने यह क्या कह डाला। उसने ऐसी अशुभ बात कहकर मेरे कलेजेमे छुरा भोक दिया। और अब मेरी बारी थी रोनेकी और सावित्रीकी बारी थी सँभालनेकी। वह न जाने क्या कुछ कहे चली जा रही थी और मेरा ध्यान किसी दूसरी जगह चला गया था। मुझे बीते महीनोकी बाते स्मरण हो आयी थी—'सावित्री! कहाँसे आ रही हो।' 'दवा लेने गयी थी।' 'सावित्री! भापाजी कहाँ है।' 'वे पेटेण्ट दवा लाने गये है।' 'सावित्री! यह तेरा हाथ कितना गरम है।' 'कुछ नही, ऐसे ही जरा हरारत हो गयी थी रातमे।'

अन्तत हम दोनोमे समझौता हुआ इस शर्तपर कि मुझे दिनमे दो बार सावित्रीके यहाँ जाना होगा। तबसे सुबह-शाम दोनो वक्त सावित्रीके घर जानेका मेरा नियम बन गया। उसका फल यह हुआ कि अधिक तो नहीं, पर कुछ-न-कुछ सावित्री स्वस्थ दिखाई देने लगी। संगीत-शिक्षण फिरसे चलने लगा। उसके लिए रोज ही एक गीत लिखकर और उसकी स्वर-लिपि बनाकर मै ले जाता और वह बडे चावसे सीखती। किन्तु यह क्रम अधिक दिनों तक नही चल सका।

गरमीके दिन थे। शायद आषाढका महीना। दोपहरका खाना खाकर उठा ही था कि भापाजी दिखाई दिये। माताजी चौकेमे शायद बरतन मल रही थी। हाथ धोकर बाहर निकल आयी और बोली, "क्या बात है भइया! बडे उदास हो?"

"क्या बताऊँ बहन!" वे बोले, "बिटियाकी बीमारीका कुछ भी ठिकाना नही मिल रहा है। घडीमे तोला, पलमे माशा। क्या जाने भगवान्ने मेरे भाग्यमे क्या लिखा है।" कहते-कहते भापाजीके आँसू टपकने लगे।

माताजी भी सावित्रीकी बीमारीसे बेखबर नहीं थीं, बोली, "तो इसमें इतना घबरानेकी क्या बात है, भइया, बुखार और खाँसी ही तो है। ठीक हो जायेगी।"

"सिर्फ बुखार-खाँसी ही तो नही है बहन! कल मिशन अस्पतालके बड़े डॉक्टरको दिखाया था, कहने लगा फेफड़ेमें कुछ नुक्स दिखाई देता है।"

सुनकर मा घबरा उठीं। उनसे भी ज्यादा घबराहट मुझे होने लगी। उन्होने पूछा, "तब क्या होगा, भैया ?"

"कहता था, किसी पहाडपर ले जाना ठीक रहेगा। शायद आराम हो जाये।"

"तब देर क्यो करते हो, भैया! जल्दी ले जाओ न पहाड़पर, अगर ज़रूरत हो तो मै भी चली चलूँगी।"

"तुम कैसे जा सकती हो बाल-बच्चोको छोडकर। और तुम्हारे जाने-की ज़रूरत भी क्या है। नौकर तो साथ रहेगा ही।"

"तो कबतक जानेका विचार है ?"

"छुट्टीकी दरख्वास्त दे दी है। जितनी जल्दी हो सकेगा, कोशिश करूँगा।"

और भापाजीके घर चले जानेके बाद, मेरा मन न जाने कैसा होने लगा। ऐसा जान पडने लगा मानो सावित्री अब नही है। सावित्री नामक कोई लडकी मानो थी ही नही और उसीके साथ मेरी दुनिया भी मानो समाप्त हो गयी। सोचने लगा, भापाजीने यह कैसी बात कह डाली। माना कि सावित्री बीमार है, पर कौन कहता है कि उसकी हालत यहाँ-तक पहुँच गयी है। रोज ही तो मैं उसके यहाँ जाता हूँ, घण्टो बैठा रहता हूँ उसके पास।—इसी सबमें बहते-बहते मुझे गालिबकी दो पंक्तियाँ याद आयी जिन्हे सावित्री उस दिन गुनगुना रही थी—

उनके देखे से जो आ जाती है मुँह पै रौनक,
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

मै सोचने लगा क्या वह शेर सावित्रीने अपनी असली हालत बतानेके अभिप्रायसे ही तो नहीं गुनगुनाया था। उस दिन पहली बार मुझे अनुभव हुआ कि सावित्रीका अस्तित्व मेरे जीवनपर कितना अधिकार कर चुका है। कितने गहरे धँस चुकी है सावित्री मेरे अन्तरमे! दिलमें आया उड़कर उसके पास पहुँच जाऊँ, पर नही जा सका। सावित्री तो इस संसारसे विदा होनेको है। फिर उसे देखकर क्या सँभल सकूँगा? क्या विकल होकर रो नही उठूँगा? और मेरे रोने-चीखनेका उस बेचारीपर क्या असर होगा? यदि उसे कुछ दिन और जीना भी होगा तो नहीं जी सकेगी।

उस दिन मैं दूकान नही जा सका। सारा दिन बीत गया और मै इधर-उधर घूमता रहा। शामको लौटा तो देखा कि भापाजी बैठे है। वे माँसे कह रहे थे। "दोपहरको भी यही कहने आया था, बहन। पर कह नही सका। उस लड़कीको क्या कहूँ! वह तो बस अपनी ज़िद्पर अड़ी हुई है। बहन! तू मुझे कितना ओछा समझ रही होगी, पर बिटिया-का मोह मुझे और मारे डालता है। बता मै क्या करूँ?'

और माने उन्हे सान्त्वना देते हुए कहा, "मन छोटा न करो, भैया! मै इतनी नादान नही हूँ कि समझ न सकूँ। क्या सावित्री मेरी बेटी नहीं है? तुम विश्वास रखो, सावित्री जैसा चाहती है, वैसा ही होगा।"

ओह! मेरी उदार माँ! मेरी परोपकारिणी अम्मी! कितना त्याग, कितना बलिदान कर रही थी वे उस समय। शायद ही कोई मा इतना त्याग कर सकेगी परायी सन्तानको बचानेके लिए?.....मेरी उम्र छोटी थी। तबतक मैंने बहुत दुनिया नही देखी थी। पर क्या इतना भी नही जानता था कि मेरी माँने क्या दे डाला उस समय भापाजीको? सीनेमे-से दिलका सबसे बड़ा टुकडा निकालकर दे दिया। यह जानते हुए भी कि सावित्रीको टी० बी० है, वे मुझे उसके साथ पहाड़ भेजनेको तैयार हो गयी।.....और दूसरे दिन हम लोग 'चराट' पहाड़पर थे।

उन दिनों सूबा-सरहदके सरकारी दफ़्तर गरमियोंमें 'चराट'पर चले जाते थे। मैं इससे पहले कभी किसी पहाड़पर नहीं गया था। कितना सुन्दर, कितना शीतल और मोहक था वह पहाड़। स्थान-स्थानपर ठण्डे-मीठे झरने। हरियालीका यह हाल कि दोपहरमें भी साँझ-जैसा दृश्य। जंगली फूलोंकी भीनी सुगन्धमें बसे, शरीर और मनको गुदगुदाते हुए हवाके झोंके।'''बाज़ार दरियाखेल'की तराईपर हम लोगोंने एक फ्लैट किरायेपर ले लिया। उस स्थानको पार्वत्य सौन्दर्यका केन्द्र ही समझना चाहिए। इसके अलावा वहाँपर एक अच्छा-सा सैनेटोरियम भी था। सैनेटोरियमके डॉक्टरसे ही सावित्रीका इलाज कराया जाने लगा। सैनेटोरियममें दाखिल न करानेकी एक वजह यह थी कि दूसरे बीमारोंको देखकर सावित्री घबरा न जाये। उसे अभीतक यह नहीं बताया गया था कि उसे टी० बी० है। अतः घरपर ही इलाजका प्रबन्ध कर लिया गया। पर क्या सावित्री इतनी नादान थी कि उससे अपनी बीमारीका भेद छिपा रहता? चाहे भेद छिपा हो या नहीं, पर यहाँ आनेसे उसे पर्याप्त लाभ हुआ। वह दिनों-दिन बेहतर दिखाई देने लगी। उसके ज़र्द चेहरेपर धीरे-धीरे ललाई आने लगी। हरारत क्रमशः कम होने लगी। वहाँ जाकर मैंने सावित्रीको जितनी खुश पाया, उतनी उससे पहले कभी नहीं पाया था।

भापाजी स्वभावसे ही धार्मिक प्रकृतिके व्यक्ति थे। यहाँ आकर उनका अधिकांश समय पोथी-पत्रोंमें ही व्यतीत होता था। दवा-दारूसे अधिक विश्वास उन्हें ईश्वरीय कृपापर था। जैसे-जैसे सावित्री स्वस्थ होती जाती, वैसे-वैसे उनके पूजा-पाठका क्रम भी बढ़ता गया। आरम्भमें दो-चार दिन तो उन्होंने हम लोगोंके सैर-सपाटेमें योग दिया, पर जब हम वहाँके रास्तोंसे परिचित हो गये तो वे हमारा साथ छोड़कर भजन-पूजामें लग गये। इधर हम दोनोंकी सैर प्रतिदिन लम्बी होती जा रही थी। मुझे हर समय सावित्रीकी थकानकी चिन्ता बनी रहती पर वह थी कि

थकनेका नाम नही लेती। जब भी मैं उसे अधिक चलनेसे मना करता तो मुझे यही उत्तर मिलता, "हस ! तुमने तो मुझे परेशान कर डाला। देखते नहीं मैं अब भली-चंगी हूँ।"

सैर करते हुए हम फल या मेवा खरीदते तो मेरा मन कहता कि हम दोनो एक ही दोनेमें-से मेवे खायें। पर सावित्रीने मेरी यह इच्छा कभी भी पूरी नही होने दी। उसका यह व्यवहार कभी-कभी मुझे खटकने लगता और मेरे मनपर एक हलकी-सी चोट पहुँचती ! यह बात कई बार नाश्ता करते या खाना खाते वक्त हो जाया करती। क्या मजाल जो सावित्री अपने जूठे बरतनोपर मेरा हाथ भी लगने दे। साथ बैठकर खाने-पीनेकी तो कहे ही कौन। न जाने उसका मुझपर कैसा रौब पडा हुआ था कि मैं उसकी किसी भी आज्ञाका उल्लघन नही कर पाता। फिर भी मैं उसके इस प्रकारके व्यवहारको सहते-सहते ऊब गया था। कभी-कभी तो मुझे यह भ्रम होने लगता कि सावित्री मुझसे दूर होती जा रही है।

धीरे-धीरे उसने मुझसे बोलना-चालना तक छोड दिया, तो मेरा भ्रम विश्वासमे बदलने लगा। बहुत बार चाहा कि पूछूँ – क्या कारण है कि वह मुझे देखते ही छुई-मुई-सी बन जाती है। मैंने कोशिश की पर बेकार। घरमे एकान्त पाकर मैं उससे पूछता, "सावित्री ! एक बात पूछूं?" और सावित्री वहीसे बैठी पुकारने लग जाती, "मुंडू ! ए मुडू ! अरे सुबह भापाजीने तुझसे नही कहा था कि लौण्डरीसे कपडे लाना ? जा, रसोईका काम मैं किये देती हूं। ' और वह उठकर रसोईमे जा पहुँचती।

पहाडपर आये हमे तीन सप्ताह हो चुके थे, और इतने ही दिनोमे जहाँ सावित्रीको बीमारी नाम-मात्रकी रह गयी थी वहीं मेरा मन उचटने लगा था। सावित्रीके बरतावने मुझे एकदम निराश कर दिया था। भापाजी-के पूजा-पाठका क्रम अब और भी बढ़ गया था। एक दिन जब वह अपने कमरेमें बैठे गीताका पाठ कर रहे थे तो मैंने उनसे जाकर पूछा, "भापाजी! और कितने दिन हमें यहाँ रहना होगा?" वह मेरी पीठ थपथपाते हुए

बोले, "क्या बात है, हंस ! मन उचट गया है क्या ? डॉक्टर अभी जानेकी इजाज़त नही दे रहा है। उसका कहना है इस बीमारीका कुछ भी ठीक नही। गिरगिटकी तरह रंग बदलती है। और अगर कही इसका दुबारा 'अटैक' हो जाये तो फिर रोगीको ख़तरेसे बाहर निकालना मुश्किल हो जाता है। कहता है कि अगर दो-ढाई हफ्ते यहाँ और रह जायें तो दुबारा 'अटैक' का कोई ख़तरा नही रह जायेगा। तब तुम लोग इसे ले जा सकोगे।"

भापाजीने एक और बात कह दी, "तू उदास मत हो, हस ! जहाँ इतने दिन रहा है वहाँ थोडे और दिन काट ले। सच कहता हूँ, हस ! मुझे तो ऐसा लगता है कि बिटियाको जितना आराम पहुँचा है वह तेरे रहनेसे ही पहुँचा है। तू चला जायेगा तो फिर कही तकलीफ बढ न जाये।" भापाजीको इस बातपर मुझे पूरा-पूरा विश्वास तो नही हुआ, फिर भी मुझे अन्दर-ही-अन्दर बडी प्रसन्नता हुई। लेकिन चार या पाँच ही दिन गुजरे होगे कि अस्पतालवाले डॉक्टरकी बात मुझे सार्थक जान पडने लगी कि यह बीमारी गिरगिटकी तरह रग बदलती है। नियमानुसार जब मै सवेरे सावित्रीके पास पहुँचा तो उसे अपनी ही नब्ज़ टटोलती पाया।

"क्या बात है सावित्री !"

"कुछ नही, हस ! आज रात नीद ज़रा ठोकसे नही आयी।"

"देखूँ तो" कहते हुए मैने उसकी कलाई थाम ली।

नब्ज क्या होती है और उसे कैसे देखा जाता है, इसके सम्बन्धमे मै इतना ही जानता था कि शरीर गरम होनेका अर्थ है बुख़ार और मैने सावित्रीका शरीर गरम पाया। जैसे-जैसे दिन चढता गया, बुख़ार तेज़ होता गया। दोपहरको भापाजी सेनेटोरियम जाकर डॉक्टरको बुला लाये। उसने आकर परीक्षा की और यथायोग्य उपचार बताकर चलता बना। जाते समय भापाजीसे इतना अवश्य कहता गया, "घबरानेकी कोई

बात नहीं पर सावधानी पूरी बरतनी होगी।" उस रात सावित्री और भापाजी सो नही सके। मै भी आधी रात तक जागता रहा। पर जब बैठे-बैठे मुझे नीदके झोके आने लगे तो बाप-बेटीके आग्रहपर मै अपने बिस्तरपर जा लेटा। दो दिन और दो रातें बीत गयी। डॉक्टर दोनों समय आता रहा और जाते समय वही रटा-रटाया फिकरा दुहरा जाता, "फिक्र-की कोई बात नही !" हम दोनोने बारी-बारीसे सावित्रीके कमरेमें रहनेका क्रम बना लिया था। यो डॉक्टर बार-बार कहता था कि अस्पतालमे रखना ज़रूरी है। रातके पहले भागमें भापाजी उसके पास रहते और दूसरे भागमे मै। धीरे-धीरे सावित्रीका फिर वैसा ही हाल हो गया, जैसा यहाँ आनेपर शुरूमे था। बल्कि उससे भी बदतर। भापाजीकी पूजा अब भी वैसी ही चल रही थी पर अब उनका एक पाँव अपने कमरेमें होता और दूसरा सावित्रीके कमरेमे। और हमारा वह दिन-दिन-भर भटकनेका क्रम ? वह तो जो रुका सो फिर कभी नही चालू हो सका। भापाजीकी बात मै नही जानता, लेकिन मेरा विचार था कि अब सावित्री बहुत थोडे दिनोकी मेहमान है। डॉक्टरका वह वाक्य भी मैं भूला नही था कि अगर दुबारा 'अटैक हो जाये तो मरीजको खतरेसे बाहर निकालना मुश्किल हो जाता है।'

रातका तीसरा पहर जा रहा था। सावित्रीके पास बैठनेकी मेरी बारी थी। पलगके पास ही एक कुरसीपर मैं बैठा था। कई दिनो बाद सावित्रीको आज गहरी नीद आयी थी। मेरे मनको बहुत सन्तोष और सुख मिल रहा था। मन-ही-मन मै भगवान्को धन्यवाद दे रहा था कि तभी सावित्रीने आँखे खोल दी और चुपचाप मेरी ओर देखने लगी।

"कैसी हो सावित्री !"

"ठीक हूँ।"

"नीद तो खूब अच्छी आयी न।"

"हाँ बहुत सोयी। खूब जी भरकर।"

"भगवान्का शुक्र है।"

"हंस ! तू सो जा।"

"अच्छा।"

"उठ भी तो।"

"उठता हूँ।"

"देख पगले ! कितनी लाल हो रही है तेरी आँख !"

आज बहुत दिनो बाद सावित्रीने फिर मुझे 'पगला' कहा था ! कितना सुखकर था उसका इस तरह मुझे सम्बोधित करना। जैसे युग बीत गये हों उस सम्बोधनको सुने हुए। – "हंस !" वह फिर बोली, "मुझे आज काफी आराम मालूम देता है। देख तो मेरी नब्ज।" और उसने अपना क्षीण और पीला हाथ मेरी ओर बढा दिया।

"बुखार तो बिलकुल नही है सावित्री !" मै खुशीसे भरकर बोला, "भगवान्ने कृपा कर दी, अब कोई खतरा नही है।" बुखार सचमुच ही नही था।

"तभी तो आज अच्छी नीद आयी।"

"परमात्माका शुक्र है।"

"अब तू जा, सो जा न !"

"अच्छा।" मै इच्छा न होते हुए भी उसके आग्रहको टाल नही सका।

चारपाईपर लेटनेको ही था कि सावित्रीने फिर पुकारा, "हंस, थोडा दूध पियूँगी। भूख लग आयी है।" काँचका गिलास उसके होठोंसे लगानेको ही था कि उसने अपने शरीरके ऊपरी भागको उठाते हुए गिलास मेरे हाथसे ले लिया, "मुझे पकडा दो, अभी इतनी गयी बीती नही हूँ कि अपने-आप दूध भी नही पी सकूँगी।" और वह गट-गट दूध पी गयी।

"ओ मेरे दाता ! आज तू कितना दयालु हो उठा है।" मै मन-ही-मन ईश्वरको धन्यवाद दे रहा था।

"हंस ! जरा ला तो वह आँवलेके तेलवाली शीशी और कघी।"

उसकी आज्ञाका पालन करते समय मैं सोच रहा था कि इस समय इस पगलीको कंघी फेरनेकी क्या सूझी ।

"मेरे हाथपर डाल थोडा तेल । हाथ बढाते हुए वह बोली । मैंने उसकी हथेलीपर थोडा-सा तेल डाल दिया ।

"रख दे शीशी वहींपर ।"

मैंने रख दी ।

"ला कंघी ।"

मैंने दे दी ।

"बैठ जा ।"

मैं बैठ गया ।

"इधर कर सिर ।"

मैं सिर उसके निकट ले गया । उसने हाथपर-का तेल मेरे सिरमें उँडेल दिया । "सचमुच तू पागल है हस ! देख तो सरकण्डेकी तरह खडे है तेरे बाल । तुझे इतना भी होश नही रहता है ।"....कितनी ममतासे वह मेरे बालोंमें कंघी कर रही थी । इधर बालोंको तह बिठाती, उधरसे बिखेर देती । मानो वह उनसे खेल रही हो और जब उसको मैंने इस कामसे निबटी हुई पाया तो देखा वह काफी थकी मालूम देती थी ।

"हंस ! तकिया हटा दे मेरे पीछेसे ।" तकिया हटानेके बाद मै उसे लिटाने लगा तो बोली, "जरा बैठना मेरी पीठके पीछे ।" मैंने तकियेकी जगह सँभाली । उसके सिरका पिछला भाग मेरी छातीसे टिका हुआ था । उसकी आँखे ऊपर उठकर मेरे चेहरेपर टिकी हुई थीं । वह कुछ ऐसी मुद्रामे मुझे देख रही थी, मानो मुझसे कुछ कहना चाहती हो, मुझसे कुछ पूछना चाहती हो ।

"सावित्री ! तुझे कुछ पूछना है ?" मैंने कहा ।

"हंस !"

"हाँ ।"

"क्या मैं बच जाऊँगी, हस ?"

"कैसी बाते कह रही हो, सावित्री ? देखती नहीं हो आज बुखार बिलकुल उतर गया है !"

उसने शायद मेरी बात नही सुनी, "कभी फिर वह दिन होंगे जब हम दोनो सैरको निकलेंगे।" वह बोली।

"भगवान्के लिए, सावित्री ! तू यह पागल-जैसी बातें न कर। मै कहता हूँ दो-चार दिनोमे ही तू सैर करने लायक हो जायेगी और हम लोग फिर खूब सैरके प्रोग्राम बनायेगे।"

मेरे दोनो हाथोको उसने अपने हाथोमे ले रखा था और उन्हे हलके-हलके सहला रही थी। थोडी देर वैसी ही टकटकी बाँधे रहनेके बाद वह बोली, "हस ! अगर मै बच गयी तो⋯⋯तो⋯⋯"

"तो क्या सावित्री ?"

"कुछ नही।"

"कैसी ऊटपटाँग बातें कर रही हो तुम ? सीधी बातें क्यो नही करती।"

पर सावित्रीने दूसरा ही प्रसग छेड दिया, "तू तो हम ! ⋯ तू तो बिलकुल ही पागल है। चाहे जिस-जिसकी सौगन्ध खिला लो जो मैंने जो मैंने ⋯"

"क्या मतलब ?"

"कुछ नही" वह थोडा खाँसकर बोली, "तुझे एक बात बताऊँ, हस ? क्या कहने लगी थी मै ? हाँ, मै कह रही थी कि नाहक तू नाराज़ न हो जाया कर। मै बीमार जो ठहरी। अच्छा, हंस ! अब हम सैरको जाया करेंगे तो हम दोनो साथ-साथ बैठकर खाया करेंगे। तुझे इतना तो सोचना चाहिए कि बीमारका जूठा नही खाना चाहिए। अच्छा अब तू सो जा। सुबह होनेवाली है।"

जैसे ही मैं उसकी पीठसे हटने लगा कि वह बोली, "ज़रा रुक जा,

एक और बात कहनी है तुझसे। दिल चाहता है कि तुझसे बातें करती ही जाऊँ। तबीयत जो हलकी है आज।"

"अच्छा बता।" कहकर मै एक मिनिट तक उसके बोलनेकी प्रतीक्षा करता रहा। पर वह कुछ नहीं बोली। तब मैं जरा खीझकर बोला, "सावित्री ! क्या तुझे मुझपर विश्वास नही है ?"

"है।"

"तो फिर कहती क्यो नही, तुझे जो कुछ कहना है।"

'तो बता ही दूँ ?"

"हाँ हाँ, झटपट।"

"अच्छा सुन, जरा ठहर जा, न जाने मुझे क्या हो रहा है।"

'क्या हो रहा है, सावित्री ?"

"ओह ! मुझे लिटा दे, हस ! मेरा दिल छूटा जा रहा है।"

घबराकर मैने उसका सिर अपनी गोदमे रख लिया "सावित्री ! सावित्री !"

"हम ! मुझे कै होनेको है। चिलमची, चिलमची।"····

चिलमची बाहर बरामदेमे थी। उसके सिरको तकियेसे टिकाकर मैं भागा बाहरकी ओर। और इससे पहले कि चिलमची उसके पास रखता, उसका बिछौना मैंने खूनसे लथपथ पाया। खूनकी बहुत बडी कै हो गयी थी उसे !

"भापाजी ! भापाजी ! दौडकर आना।" वही खडा-खडा मै चिल्लाने लगा। उसे इस अवस्थामे छोडकर मै जा कैसे सकता था ? और जब दुबारा मेरी नजर सावित्रीपर पडी तो मैंने उसे कभी न टूटनेवाली नीदमे पाया। मानो वह मुझ आदेश दे रही हो, "हस ! अब तू मुझे अकेली छोडकर कही भी जा सकता है।"

उसकी आँखें बन्द थी, पर होठ अधखुले थे। उसके मुखपर अभीतक वही रहस्योद्घाटनकी लालसा विद्यमान थी — मानो उसके अपूर्ण वाक्यका

शेष भाग उसके होंठोसे निकलने ही वाला था। मौतकी पीली परछाइयाँ उसके मुखपर छाती जा रही थी। पर किसी अविकसित आकांक्षाकी पिपासा, किसी रहस्यको खोलनेकी हसरत, अभीतक उसके चेहरेपर विद्यमान थी।

सावित्री मर गयी। उसकी मौतने जो प्रहार – जो असह्य प्रहार – मेरे जीवनपर किया उसकी कसक समयके साथ कम होती चली गयी। लेकिन पचास वर्ष बीत जानेपर भी एक अरमान अभीतक मेरे अन्तरमे बना हुआ है – 'काश ! मौतने उस अभागिनीको इतना समय दिया होता कि वह अपने अन्तिम वाक्यको पूरा कर पायी होती !

● ●

डायरीके कुछ पन्ने

[ये पन्ने मैंने ५ अगस्त १९४८ की शामको परसेट गंज धर्मशालामें बैठकर डायरीके रूपमें लिखे थे।]

यहाँ आये आज मुझे चार-पाँच दिन हो गये हैं। कल सबेरे मैं वापस जा रहा हूँ। यद्यपि मैं आया था डेढ़ महीनेका प्रोग्राम बनाकर पर इन पाँच ही दिनोंमें इतना ऊब गया हूँ कि यहाँ न तो रहनेकी मेरी इच्छा है और न ही मैं यहाँ रहकर कुछ लिख सकता हूँ।

सब सामान बाँधकर तैयार कर रखे हैं। केवल बिस्तर-भर बाँधनेका काम शेष है, पर वह सबेरे चलते समय ही बँध सकेगा। आज खाना खानेको जी नहीं चाहा, केवल चायके दो प्याले पीकर यहाँ बैठ गया हूँ और बैठे-बैठे डायरीके इन पन्नोंको काला करने लगा हूँ।

दोपहरके समय कुछ कपड़े धोकर सुखानेके लिए बाहर फैला दिये थे, पर धूप न निकलनेके कारण वे सूख नहीं पाये। अतः अब उन्हें लाकर कमरेमें बँधी रस्सीपर डाल दिया है जो सुबह तक तो सूख ही जायेंगे।

सन्ध्या हो चुकी है। बादल छाये हैं। बीच-बीचमें बूँदा-बाँदी भी हो जाती है। उत्तरकी खिड़की मैंने खोल दी है और बीच-बीचमें लिखनेका काम रोककर बाहरकी चरागाहको देखने लग जाता हूँ। पर जितनी बार भी उधर ध्यान जाता है, एक टीस-सी उठने लग जाती है मेरे मनमें, मानो आँसुओंका फव्वारा हृदयसे उठ कण्ठ और मस्तिष्ककी ओर चढ़ता जा रहा हो। और किसी-किसी समय तो मुझे ऐसी आशंका होने लगती है कि धाड़ मारकर रोने लग जाऊँगा।

आज मुझे वहाँका सब कुछ उदास, नीरस और निर्जीव-सा दिखाई दे रहा है। कब रात बीते और मैं यहाँसे भाग चलूँ, यही इच्छा बार-बार मेरे मनमें हो आती है। आस-पासकी हिमाच्छादित चोटियाँ, जिन्हे देखकर मेरा मन खुशीसे नाच उठा करता था, आज मेरे अंग-अंगको जैसे गलाये जा रही हैं।

धर्मशालाका पहाड कोई बहुत बढिया पहाडोमे नही गिना जाता। यहाँ भाणसूनाथके अतिरिक्त न तो कोई सैरगाह है न यहाँ आमोके सिवा कोई दूसरा फल हो होता है। जिधर भी आँख उठाकर देखो टेढी-मेढी सडको और ऊबड-खाबड पगडण्डियोका जाल-सा बिछा दिखाई देता है।

प्रश्न यह उठता है कि फिर क्या मेरा सिर फिरा हुआ है जो गत पन्द्रह वर्षोंसे इसी पहाडपर आता रहा हूँ। सिर यदि फिरा ही होता तो मै इन चोटियोपर बैठकर कैसे इतने उपन्यास लिख पाता। सच बात तो यह है कि इस पहाडपर पहुँचते ही मेरी कलममे मशीनकी-सी गति आ जाती है और दस-दस बारह-बारह घण्टेमे एक ही बैठकमे लिखता चला जाया करता था।

और वह कौन-सी खूबी थी जिसने मुझ इतने वर्षो तक अपने मोह-पाशमे बाँधे रखा और आज ऐसा क्या उलट-फेर हो गया जो वही पहाड मुझे काट खानेको दौड रहा है। तब तो यह हालत थी कि दस्तो कागज रँगता चला जाता और थकने-ऊबनेका नाम नही लेता था, और अब? आज पाँच दिन हो गये यहाँ, कितना ही यत्न किया पर एक पक्ति भी तो मुझसे लिखते नही बनी। वही यहाँका भाणसूनाथ चश्मा, जिसकी कल-कल ध्वनि मेरे रोएँ-रोएँमे मधुरता भर दिया करती थी, आज मुझे आर्त्तनाद करता सुनाई दे रहा है। इस उलट-फेरका जो कारण है उसे बतानेसे पहले गत पन्द्रह वर्षोंके इतिहासपर मुझे एक विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

मै कोई धनी-मानी व्यक्ति नहीं हूँ और न ही इतना आरामतलब ही हूँ कि पहाडोके नीचे गरमीका मौसम न बिता सकूँ। फिर भी यदि मुझे प्रति वर्ष यह पर्वतारोहण करना पडता है तो उसका कारण कुछ और है। मेरी प्रियतमा कह लीजिए, चाहे मेरी आराध्यदेवी, उसीको रिझाने या उसीकी पूजा-आराधना करने मुझे यहाँ प्रतिवर्ष आना पडता है। और मैने अपने इस नियमको उन दिनों भी टूटने नही दिया जिन दिनो मेरे टिनमे न तो आटा रहता था, न डिब्बेमे घी और न बटुएमे पैसा। ऐसी अवस्थामे या तो किसीसे थोडा-बहुत कर्ज लेकर, या किसी मित्रसे सहायता माँगकर मै अपनी यह सनक पूरी कर लिया करता था और मेरी इष्ट-उपासनाकी एक-मात्र पूँजी थी मेरी कला। उपन्यास लिखनेकी मेरी निरन्तर लगन।

अपने जीवनमे मैने सबसे पहले जिस पहाडको देखा वह था 'चिराट'। धर्मशालाकी सर्वप्रथम यात्रा मैने सन् १९२८ मे की थी। और वहाँ पहुँचकर मैक्लॉर्ड गज स्थित एक मुसलमान, मुन्शी अब्दुल्लाके मकानका कुछ भाग पन्द्रह रुपये महीनेपर लेकर टिका था। यह मुसलमानोका छोटा-सा मुहल्ला था जिसमे पन्द्रह या बीससे अधिक मकान नही थे।

मकान मेरे लिए यथेष्ट सुविधाजनक था और आस-पासके दृश्य भी मनोरम थे। अत बडे आरामसे मै उपन्यास-रचनामे सलग्न हो जाया करता। वहाँपर मुझे और तो सब तरहसे आराम था। सिर्फ एक तकलीफ कभी-कभी खटकती थी, वह थी ऊँची सोसायटीका अभाव। जिन लोगोके बीचमे रह रहा था उनमे-से कुछ तो अँगरेजोके बैरे, खानसामे थे और कुछ मजदूर। दो-एक घर कसाइयोके भी थे। इन लोगोमे ऐसा एक भी व्यक्ति नही था जिसमे मेरी कुछ भी दिलचस्पी हो। पर थोडे ही दिनोमे मैने अपनी दिलचस्पीका एक नया जरिया पैदा कर लिया। मुझे छोटे बच्चोसे स्वाभाविक प्रेम है। इसी स्वभावने मेरी सहायता की। उस छोटी आबादीके बहुत-से नन्हें-मुन्हें मेरे मित्र बन गये।

शामके पाँच बजे जब मेरा लिखनेका काम खतम होता तो वे सब यह कहते हुए आकर मुझे घेर लेते – चलो, चाचाजी सैरको चलें। और मैं झट तैयार हो अपने उस दल-बलसहित निकल खड़ा होता।

हम लोगोंकी यह मैत्री क्रमशः बढ़ती चली गयी और इस मैत्रीके साथ-साथ मेरा अपना उल्लास भी। कभी-कभी हम लोग लम्बी सैरको निकल जाते, रास्ते-भर हमारी ज्ञान-गोष्ठी चलती रहती। मैं अपने बाल-मित्रोंको कहानियाँ सुनाया करता और वे मुझे सुनाया करते पहाड़ी गीत। कभी-कभी अपने चाचापनसे लाभ उठाता हुआ मै उन्हें तरह-तरहकी सीखें भी देने लग जाता।

बच्चोंके प्यारे-प्यारे गीत सुनकर मुझे कितना आनन्द मिलता था। विशेषतः जब कसाइयोंकी लड़की अजीजाँ और मुन्शी अब्दुल्लाका लड़का रहमद, जो क्रमशः पाँच और सात वर्षके थे, मिलकर 'बंसीवाले' का गीत सुनाने लगते, समाँ ही बँध जाता। गीतकी दो-एक पंक्तियाँ मुझे आज तक याद हैं—

> कन्धी कन्धी जावें, नाले बंसेरी बजावे
> लोकां दियां नारां भरमावे'' '''बलमा
>
> अलुबेलुआ हो '''' ।
>
> नन्दे-दर्या छोरुआ जशोदे दया बाल्या
> असें कन्ते कहया शरमावे बलमा
>
> अलुबेलुआ हो'' '''' ।

कुछ तो दोनों बच्चोंकी आवाजें तुतली होनेके कारण और कुछ उन्हें झूम-झूमकर गाते देख मैं हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता। और हँसी आनेका विशेष कारण यह था कि इस गीतके रचयिताने कृष्णको भी कदाचित् पर्वतवासी समझ रखा होगा। तभी तो इस गीत-द्वारा कविने सखियोंके मुखसे यह कहलवाया था—

'पर्वत मार्ग जानेवाले ओ बंसीवादक, तू बंसी बजा-बजाकर यहाँकी

स्त्रियोंको मोहला चला जा रहा हूँ। पर नन्द और यशोदाके छोकरे, तू हमसे क्यो शरमाता है।"

पर्वतवासियोकी रहन-सहन देखनेमे प्राय मैली-कुचैली होती है। मेरी उस बाल-सेनाका भी आरम्भमे यही हाल था। पर शनैः-शनै. उसका रंग-ढग बदलता चला गया।

इतवारके दिन हम लोग पिकनिक किया करते थे। उन दिनो यहाँ-पर आम बहुत सस्ते थे, आठ-दस आने सैकडा। और एक सैकडेमें अच्छी-खासी टोकरी भर जाती थी जिससे मेरी जेबपर कोई अधिक बोझ भी नही पडता था।

अन्तत. मेरा वह मौसम खासे मजेमें कट गया और मेरे लौटते समय उन सब बच्चोकी हुलिया बदली दिखाई पडी। उनके कपडे-लत्तोमे, शरीर और बात-चीतमें बहुत बडा परिवर्तन आ गया था। चलते समय जब उन लोगोने 'बन्दे मातरम्' और 'अल्ला हो अकबर' के नारे लगाते हुए मुझे बिदा दी तो मोटर लॉरीके दूसरे सवार उनका उत्साह देखकर दंग रह गये।

उस प्रथम यात्रासे लेकर गत तेरह-चौदह वर्षों तक मै निरन्तर इसी पहाडपर आता रहा और हर बार उसी अब्दुल्लाके मकानपर टिकता रहा। जब भी मेरी यात्राका समय हो जाता वह लाडली फौज पहलेसे ही मेरी प्रतीक्षा करने लगती। इतना ही नही वह मेरे लिए पहाडी गीतोका नया सग्रह भी एकत्र करने लग जाती। जब-जब मै धर्मशाला आता उस सेनाके कुछ सैनिक रिटायर्ड हो चुके होते। पर उतने ही नये भरती भी हो जाते। एक ओर यदि कुछ बालक किशोर होकर काम-धन्धोमे लग जाते तो दूसरी ओर छोटे बच्चोमे-से जो कुछ बडे हो जाते वे उन रिक्त स्थानोकी पूर्ति कर देते। इस प्रकार मेरे दलकी संख्या प्रायः एक-सी रहती।

इतने लम्बे समयमे मेरे देखते-ही-देखते कई नन्हे जवान हो गये और

कई नन्ही-मुन्नियाँ दुलहिनें बनकर ससुराल चली गयी। पर हमारी वह सेना ज्योंकी त्यों कायम रही। बच्चोंके साथ-साथ उनके माँ-बाप भी मुझसे बड़ा प्रेम करते। बच्चे यदि मुझे चाचाजी कहकर पुकारते थे तो उनके माँ-बाप पापा कहकर। अब मैं इन लोगोंसे इतना हिल-मिल गया था मानो उनके ही परिवारका एक सदस्य होऊँ। अब कौन मेरे कपड़े धोकर ला देता, कौन बिस्तर लगा देता, कौन कमरा साफ कर जाता — ये सब वे ही जानें। मुझे इन बातोंसे कोई सरोकार नहीं था।

वर्षपर वर्ष बीतते चले गये पर धर्मशालाकी यात्राका मेरा क्रम ज्यों-का त्यों बना रहा। और जब गत वर्ष जुलाई (१९४७) में मैं घरसे चलने लगा तो आशंका होने लगी कि न जाने वे लोग किस अवस्थामें होंगे। ये वे ही दिन थे जब पंजाबके प्राय प्रत्येक जिलेमें मानव-रक्तकी होली खेली गयी थी।

अमृतसरसे चलकर यहाँ पहुँचने तक मुझे यही भय बना रहा कि शायद इस बार मैं अपने उस पुराने निवास-स्थानमें नहीं रह सकूँगा। सोचता था, वे सभी तो मुसलमान हैं इसलिए अवश्य ही अब उनकी आँखें बदल गयी होंगी। शायद उनमें-से कोई भी पहले-जैसा स्नेह प्रदान न करे।

चलते समय घरवालोंने मुझसे ताकीद कर दी थी, खबरदार जाकर मुसलमानी मुहल्लेमें न टिकना। पर यहाँ पहुँचते ही जैसे मुझे सारी हिदायतें भूल गयीं और मैं उसी मैकलॉर्ड गंजके अड्डेपर जा उतरा।

अड्डा उस मुहल्लेकी बगलमें ही था। मेरे उतरनेकी देर थी कि चाचाजी आ गये, चाचाजी आ गये, का शोर मच गया और देखते-ही-देखते मुहल्लेके सब बच्चे और उनके माँ-बाप दौड़े चले आये और आते ही मुझसे लिपट गये। आलिंगन पहलेसे भी दृढ़ थे। आँखोंमें पहलेसे भी अधिक स्नेहका आभास था और मेरे स्वागतमें पहलेसे भी बढ़कर गर्म-जोशी। कोई दो मिलकर मेरा ट्रंक ले भागे, किन्हींने बिस्तर उठा लिया,

किसीने छाता, किसीने थैला। और मेरे पहुँचनेसे पहले ही सारा सामान कमरेमें सज गया। खिडकियाँ-दरवाजे खुल गये, और बिस्तर लग गया।

सफरकी थकावट दूर करनेके लिए मैं अपनी बाल-सेनाको बिदा करके चारपाईपर लेट गया। अभी चार-पाँच मिनिट ही बीते होंगे कि कसाइयोंकी लडकी अजीजाँको भीतर आते देखा। वह दुल्हिनके पहनावेमें सजी हुई थी और रेशमी रूमालसे ढँका हुआ एक ताँबेका थाल अपने दोनो हाथोंमें पकड रखा था जिसमें वह ले आयी थी अपने विवाहकी मिठाई।

गत वर्ष जब मैंने अजीजाँको देखा था तो मुश्किलसे वह बाल्यावस्थाको पार कर पायी थी। पर अब तो मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही जब मैंने यौवनसे लदी हुई अजीजाँका देखा। उसका कद काफी लम्बा हो गया था और लावण्य उसके अंग-अंगसे फूटा पड रहा था।

उसके आते ही मैंने पूछा, तेरा विवाह हो गया री गंजी और अजीजाँने अपनी लम्बी वेणीको हाथमें पकडकर मुझे दिखाते हुए कहा था अब मैं कहाँ गंजी हूँ, चाचाजी, देखो तो मेरी चुटिया।

पाँच-छह वर्ष पहले जब टाइफाइड हो जानेसे अजीजाँके केश झड गये थे तभीसे मैं उसे गंजी कहकर पुकारा करता था। अजीजाँ बहुत पहले मेरी बाल-सेनासे रिटायर्ड हो चुकी थी पर मुझसे उसका स्नेह वैसा ही कायम था।

शकरपारे सूखकर सख्त हो गये थे, अजीजाँ और उसकी माँने उन्हे मेरे लिए गत डेढ माससे सँभालकर रख छोडा था। और फिर मेरे दाँत भी तो इतने मजबूत नहीं थे। फिर भी अजीजाँको खुश करनेके लिए मैंने एक-दो दाने उठाकर मुँहमें डाल लिये और उन्हे धीरे-धीरे चबानेका यत्न करने लगा। बाकी मिठाई मैंने थैलेमें उँडेल ली और फिर थाल और रूमाल उसे लौटा दिये। थाल तो अजीजाँने ले लिया, पर रूमाल यह कहते हुए उसने मेरी चारपाईपर रख दिया अम्मा कहती है, यह मत लाना।

मेरा विचार था कि डेढ़-दो महीने धर्मशालामे गुजारूँगा, पर जुलाई बीतते न बीतते घरसे पत्र आने लग गये—जल्दी चले आओ, १५ अगस्तको गडबड हो जानेका खतरा है। अखबारोंमें भी इसी प्रकारके समाचार पढने-को मिलते थे। मैं अपने उपन्यासका पूर्वार्द्ध भी नही लिख पाया था, किन्तु अन्तत मुझे इसे अधूरा ही लेकर लौट आना पडा।

चलते समय वह लाडली सेना और उनके वे सम्बन्धी पूर्ववत् मुझे मोटरपर चढ़ाने आये, मैंने बारी-बारीसे सबका आलिगन किया। बच्चाके मुँह-माथे चूमे और उनके अमृतमय प्रेमको आँखोंमें भरकर मै बमम दाखिल हुआ।

और अब ?

पहलेसे ही सुन चुका था कि गत अगस्तको फसादोने मैकलॉर्ड गजके उस मुसलिम मुहल्लेका सफाया कर डाला है, फिर भी एक बार पुन उस स्थानको देखनेकी लालसा मैं नही त्याग सका। वही मुहल्ला, वही मुन्शी अब्दुलाका घर, जिसके खण्डहरोमे मेरी असख्य स्मृतियाँ दबी हुई है। एक-बार अवश्य देखूँगा, यह पिपासा मनमे लेकर इस बार भी मै यहाँ आ पहुँचा।

विचार यही था कि मैकलॉर्ड गजके अड्डे पर ही उतरूँगा फिर सोचा, वहाँपर अब मेरा कौन है, किसके पास जाऊँगा ? कौन मुझे लेने आयेगा ? अत. मैं एक मोल इधर फरसेट गजके अड्डे पर उतर पडा। सामान उठवा-कर मैंने अपने मित्र ठाकुर रामसिहकी दूकानमें रखवाया, और मैकलॉर्ड रोडकी ओर चल पडा। चलते समय ठाकुर रामसिहके भाईने कहा—"सरदारजी, वहाँ जाकर क्या कीजिएगा, आपकी वह नगरी तो उजड चुकी।" पर मैं नही माना।

धक्से रह गया मेरा दिल, जब वहाँ पहुँचकर मैंने उस मुहल्लको धराशायी पाया। मुन्शी अब्दुल्लाका मकान कहाँपर था उसका पता उसी एक जामुनके पेडसे मिलता था जो अभीतक फसादियोके आक्रमणस

न जाने कैसे बचा रह गया था। इसके अतिरिक्त वहाँपर जो चीजें मुझे दिखाई दीं, वे थी, मलवेके ढेर और कहीं-कहीं जली हुई शहतीरोंके ठूँठ।

अब मैं वहाँ अधिक ठहरकर क्या करता? स्मृतियोंकी गठरीके चारो छोर सँभालते हुए वहाँसे लौट पड़ा।

रात मैंने ठाकुर रामसिंहके यहाँ बितायी और दूसरे दिन मुझे उन्हीं ठाकुरजीकी सहायतासे यह मकान किरायेपर मिल गया; यही जिसमे बैठकर इस समय मैं अपनी डायरी लिख रहा हूँ।

दिल बहुत उदास हो गया था, न भूख लगी, न सैर करनेको जी चाहा और न ही कुछ लिखनेकी रुचि हुई। एकसे अधिक बार उपन्यासको लिखाई आरम्भ की, पर व्यर्थ। मस्तिष्कमें जैसे किसीने रेतका बोरा उँडेल दिया हो! पैंडको पकड़ता और फेंक देता — फेंकता और पकड़ लेता। चारपाईपर लेटता और उठ बैठता, उठता और लेट जाता। पर न तो लिखनेमे सफल हो सका और न ही सोनेमें।

रात बड़ी मुश्किलसे काटी और दिन चढ़ते ही एक बार फिर दाँत भीचकर लिखनेके लिए अपनेको तैयार किया। लिखनेकी क्रिया अगर लेखनीपर ही निर्भर होती तब तो कोई कठिनाई नही थी; लेखनी तो वही लिखेगी जो मस्तिष्कमे उभरेगा। फिर अगर वहाँसे कुछ उभरेगा ही नही तो कागज़पर स्याही पोतनेका काम तो लिखावट नहीं।

इसी प्रयत्नमे मैंने सुबहसे शाम कर डाली, पर ढाकके वे ही तीन पात। हारकर मैने लिखनेका विचार ही छोड़ दिया।

यह बात परसोंकी है। सारे दिनके असफल प्रयासने मुझे इतना थका दिया — इतना हताश कर दिया कि दिल डूबने लगा। किसी प्रकार भी दिलको चैन नही मिल रहा था।

शाम हो चली थी और मै यहीं बैठा था। इसी खिड़कीसे बाहर उस चरागाहपर मैं सूनी-सूनी, खोयी-खोयी आँखोंसे ताक रहा था। कुछ दूरीपर काली-काली ठिगनी-ठिगनी गायें चर रही थीं। चीड़, देवदारु,

बन और मंजनूके वृक्ष हवामें झूम रहे थे। निस्सन्देह आम लोगोंके लिए वह बडा ही मनोरम दृश्य था। पर मुझे न जाने क्या हो गया कि इस प्राकृतिक सौन्दर्यसे ज़रा भी सुख नही मिल रहा था, उलटे मेरी उदासीमे उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती चली जा रही थी।

डूबते हुए सूर्यकी पीली-पीली किरणें चरागाहपर रेंगती हुई दिखाई दे रही थी। खिडकीमे बैठे-बैठे जब मन ऊब गया तो मै उठ खडा हुआ। चप्पल पहन छाता लेकर मै घरसे बाहर निकल पडा। छातेकी ऐसी ज़रूरत तो नही थी पर इन दिनो हर समय इन्हे पास रखना आवश्यक होता है। पता नही मूसलाधार वर्षा ही होन लग जाये।

अन्तत मै उसी चरागाहकी ओर चल निकला। प्राय एक फर्लांग ही गया था कि सहसा मेरी दृष्टि एक युवतीपर जा पडी जो अपनी दो गायो और एक बछियाको हाँके लिये जा रही थी। उसकी चाल और उसके कन्धोकी हरकतसे मुझे कुछ ऐसा आभास होने लगा जैसे मै इससे पूर्व-परिचित हूँ। पर मैने उस ओर अधिक ध्यान नही दिया। कुछ और आगे जानेपर एक बार फिर मेरा ध्यान उसी ओर जा पडा। वह पहाडिन मेरे आगे-आगे जा रही थी, प्राय आध फर्लांगपर। शायद बछियाके पीछे रह जानेपर वह गायको छोडकर पीछेकी ओर मुडी। मेरा ध्यान अभीतक उस ओर खिचा हुआ था। कुछ सन्ध्या उतर आनेसे, कुछ लाल बादल घिर जानसे और कुछ कुहासेके कारण ऐनकका शीशा भीग जानेसे उस युवतीका चेहरा मुझे स्पष्ट दिखाई नही दे रहा था।

थोडा और आगे जाकर मुझे आभास होने लगा कि वह पहाडिन भी जिज्ञासाकी मुद्रामें मेरी ओर देखनेका यत्न कर रही है, और शायद इसी अभिप्रायस उसने दो-तीन बार मेरी ओर गरदन घुमायी। फिर सहसा मैने उसे रुकते देखा।

अब वह अपनी गायोको वही छोड धीमे-धीमे मेरी ओर चली आ रही थी। और जैसे-जैसे वह मेरे निकट आती गयी, क्रमशः उसका

चेहरा मेरे सामने स्पष्ट होता गया। ऐनकको रूमालसे पोछकर जब मैंने फिर उसे आँखोपर चढाया तो सहसा मेरे मनमे एक प्रश्न उठा। कही यह अज़ीज़ाँकी माँ तो नही है फिर सोचने लगा—पर इसका पहनावा तो हिन्दुओ-जैसा है।

उधर जब वह पहाडिन मुझसे प्राय· बीस कदमोकी दूरीपर पहुँच गयी तो सहसा उसने मेरी ओर दौडना शुरू कर दिया। इधर मेरे कदमोमे भी उत्तरोत्तर तेज़ी आती गयी।

"ओह! चाचाजी, तुम" ऊँचे स्वरसे चिल्लाती हुई वह मुझसे आ लिपटी।

वह अज़ीज़ाँकी माँ नहीं थी, स्वय अज़ीज़ाँ ही थी।

"ओह मेरी·····" और इससे अगला शब्द 'गंजी' मेरे गलेमे ही अटककर रह गया, कदाचित् इसलिए कि यह शब्द विनोदका सूचक था। मैने उसे अपनी छातीसे लगा लिया, मानो मेरी अपनी चिर बिछुडी बेटी ही मुझसे आ मिली हो!

अज़ीज़ाँकी वेश-भूषा हिन्दू पहाडिनो-जैसी थी। और जिस बातने मुझे एकदम हैरानीमे डाल दिया वह यह थी कि अज़ीज़ाँ सचमुच अपनी माँकी उम्रकी दिखाई दे रही थी। वही अज़ीज़ाँ जिसे मैंने गत वर्ष दुलहिनके रूपमे देखा था, एक ही सालमें बुढिया-सी लग रही थी। उसकी वह चिकनी-सलोनी जवानी – उसकी आँखोका वह आकर्षण – सब जैसे खो चुका था। उसका शरीर निचुडे हुए गन्नेकी तरह सूख-सा गया था। उसकी वह लम्बी वेणी, जिसे एक दिन वह सगर्व अपने गंजी न होनेके प्रमाणस्वरूप मुझे दिखाया था, अब घटकर चूहेकी दुमके समान हो गयी थी। उसका गुदगुदा शरीर ककाल-मात्र बनकर रह गया था। गाल पिचक गये थे और सन्तरेकी फाँको-जैसे होठ प्याज़के सूखे छिलके-जैसे लग रहे थे।

इधर अज़ीज़ाँ मेरी छातीसे अपना सिर सटाये रोनेमे इतनी व्यस्त

थी कि उसे अपनी गायोंके दूर निकल आनेका भी खयाल न रहा।

"बेटी अज़ीज़ाँ" कहते हुए मैं उसके सिरके उलझे, रूखे बालोंको सहलाये जा रहा था और अज़ीज़ाँ अपनी आँखोंको इधर-उधर घुमाती भयभीत दृष्टिसे ताक रही थी। इतनेमे ही वह सहसा बोली — "चाचाजी, अब मेरा नाम अज़ीज़ाँ नही, सत्या है। आप कहाँ ठहरे है चाचाजी।"

हाथके संकेतसे मैंने अपना मकान उसे दिखा दिया पर मुँहसे कुछ नही बोलते बना।

"अच्छा, चाचाजी" मुझसे हटकर वह गायोंकी ओर जाती हुई बोली, "कल फिर किसी वक्त मिलूँगी।" और वह ऊँची आवाज़से "छीहो, छीहो, पुकारती हुई भाग खड़ी हुई। मै घर लौट आया।"

रात-भर अज़ीज़ाँके वही दो परस्पर-विरोधी रूप मेरी आँखोके सामने घूमते रहे। एक तो पहले ही मै कुछ कम उदास नही था। ऊपरसे इस नयी घटनाने मेरी उदासी और बढ़ा दी।

दूसरे दिन, अर्थात् कल, सारा दिन मैंने अज़ीज़ाँकी प्रतीक्षामे गुज़ारा। वह सन्ध्या समय आयी। सबसे पहले उसने जल्दी न आनेके कारणको बताते हुए मुझसे क्षमा माँगी। उसने बताया, मेरा घरवाला बड़ा शक्की और निर्दयी स्वभावका है। आज सारा दिन वह घर ही पड़ा रहा जिसके कारण मै न आ सकी। अभी थोड़ी देर पहले वह 'पोल कैम्प' में चला गया, तब कही मुझे आनेका अवकाश मिला।

अज़ीज़ाँने यद्यपि अपने सम्बन्धमे गत शामको मुझे अपने नाम परिवर्तनके अतिरिक्त कुछ भी नही बताया था। पर उसके उस एक ही वाक्यसे मैं बहुत-कुछ समझ गया था। फिर भी एक बार अज़ीज़ाँके मुँहसे उसकी करुण कहानी सुननेके लिए मैं उतावला हो रहा था।

अज़ीज़ाँको मैंने आदरसे बैठाया और बैठते ही उसने बिना कोई भूमिका बाँधे सब कुछ सुनाना शुरू कर दिया और तबतक नही रुकी, जबतक उसने सब-कुछ सुना नहीं डाला।

"अच्छा, बेटी सत्या", अम्मीजाँ कहनेसे उसने मुझे मना कर दिया था, मैंने स्नेह और सहानुभूतिसे भरकर उससे पूछा, "तूने बताया है कि तेरे दुल्हेको मार डाला गया, तुझे अलग कर लिया गया और उस हल-चलमें तेरे माँ-बाप तुझसे बिछुड गये। खैर वह तो जो होना था हो गया, पर यह बता कि अब तेरे दिन कैसे गुजरते है ?"

मेरे प्रश्नका उत्तर न देकर उसने मुझसे पूछा, "अच्छा चाचाजी, एक बात पूछती हूँ, आपको तो सब पता होगा। क्या यह ठीक है कि जिन मुसलमान लडकियोको मिलिटरीवाले इधरसे छुडाकर ले जाते हैं, पाकिस्तानमे ले जाकर, उन्हे मार डाला जाता है ? और मैंने तो यह भी सुना है कि जिन लडकियोक बाल-बच्चा हो जाये, उन्हे वे लोग जिन्दा जला डालते हैं।"

मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा, "नही बेटी, तुझसे यह किसीने गलत कहा है। शायद तुझे डरानेके लिए ही ऐसा कहा गया है। वहाँ ले जाकर किसी लडकीको भी मारा नही जाता, न हो कोई उन्हें जिन्दा जलाता है। ये सब वाहियात बातें हैं।" उसने फिर पूछा "तो क्या चाचाजी, आप सलाह देते हैं कि मैं पाकिस्तान चली जाऊँ ? दो-तीन बार यहाँ मिलिटरीवाले आये थे पर इसी डरसे मैं जान-बूझकर छिप गयी। फिर किसी-न-किसी दिन आनेके लिए कह गये थे, और मेरा खयाल है कि जरूर आयेंगे।"

"हाँ, हाँ, बेटी" – मैंने उसका भय दूर करनेके लिए कहा, "तुझे जरूर जाना चाहिए। पर क्या तेरा आदमी सहज ही तुझे जाने देगा ?"

"वह मुझे कैसे रोक सकता है चाचाजी, अगर मै जाना चाहूँ तो। पर मैं तो खुद ही जानके डरसे जानेका नाम नही लेती थी।"

"तुझे अपने माँ-बापके बारेमे कुछ पता लगा कि वे कहाँ है।"

"वे आजकल मुलतानमे हैं। उन्होने ही तो मिलिटरीवालोको मेरी रिपोर्ट दी थी।"

"तो पगली फिर भी तू यहाँ क्यों पड़ी हुई है, तुझे तो मिलिटरी-वालोंके साथ फौरन चली जाना चाहिए था।"

मेरा आश्वासन पाकर अज़ीज़ाँके मनको बहुत-कुछ धैर्य मिला। पर धैर्य पानेके बाद भी वह मुझे पाकिस्तान जानेके लिए सहमत नही जान पडी। अज़ीज़ाँ मुझे बता चुकी थी, कि इस नये पतिके पास आनेसे पहले वह क्रमश तीन बार दूसरे लोगोंके हाथ बिक चुकी थी और फिर उसने यह शंका ज़ाहिर की कि उसका यह चौथा पति भी न जाने कब उसे बेच डाले। उसके हाथमें कोई अच्छा खरीददार पडनेकी ही देर थी।

तब मैंने उसे समझाना शुरू किया, "देख बेटी, इस तरह तो न जाने कितनी बार तुझे बिकना पडेगा, सो तेरे लिए यही अच्छा है कि जिस दिन भी मिलिटरी आये तू उसके साथ चली जा। तेरे माँ-बाप क्या ऐसे ज़ालिम होंगे कि घर पहुँचनेपर तुझे धक्का दे देंगे। जब कि वे खुद ही तेरी तलाशमें हैं।"

मेरी बातें सुनकर अज़ीज़ाँ किसी चिन्तामें खो गयी और फिर बोली—"आप ठीक ही कहते हैं, चाचाजी। और फिर मैं भी तो माँ-बापके लिए कुछ कम नही तडप रही हूँ। चलो फिर क्या है, अगर वे लोग मुझे मार भी डालें तो भी वह इससे अच्छा ही है।"

"दुत् पगली" मैंने फिर उसे फटकार बतायी, "अपनी औलादको भी कोई मारता है।"

अज़ीज़ाँने इस तरह मेरी ओर देखा जैसे किसी बहुत बडे रहस्यको प्रकट करनेमें अपनेको असमर्थ पा रही हो। और मात्र इतना कहकर उसने गरदन झुका ली—"पर, चाचाजी ! आप नही जानते कि मेरे····मैं····मुझे····"

अब मैंने देखा अज़ीज़ाँ-जैसे धरतीमें गडती जा रही थी। उसकी झुकी हुई आँखोंमें आँसू झलक रहे थे। उसका पीला मुरझाया चेहरा

कुरूप लगने लगा था, मानो अज़ीज़ाँके लिए मेरे सम्मुख बैठे रहना असह-नीय हो उठा हो।

इसी करुण भावमें अज़ीज़ाँ डूबी रही और आँसू बहाती रही। इधर मैं भी उसकी वास्तविक अवस्थाको समझ चुका था। इसलिए और अधिक पूछताछ करनेका साहस नहीं हो रहा था। कितनी ही अज़ीज़ाँएँ यथार्थमें ही माँ-बापके घर जानेसे डर रही थीं। कलंककी इतनी बड़ी गठरी उठाकर कैसे कोई लड़की अपने माँ-बापके घरमें प्रवेश कर सकती है।

मेरे शरीरका रोम-रोम इस समय अज़ीज़ाँकी पीड़ासे दुःख रहा था। अज़ीज़ाँ बेचारीको दुर्भाग्यने ऐसी परिस्थितिमें डाल रखा था कि अब न तो मेरी सहानुभूति ही उसका कुछ उपकार कर सकती थी और न ही मेरा वात्सल्य।

सहसा वह बोल उठी, 'अच्छा, चाचाजी, जिस दिन मिलिटरी आयेगी, मैं चली ही जाऊँगी'' और कहती-कहती अज़ीज़ाँ उठकर चल दी। जाते समय न तो उसने आँखे उठाकर मेरी ओर देखा, न ही कुछ कहा। शायद मेरे सामनेसे भागकर नही, बल्कि उड़कर दूर चली जाना चाहती थी।

पर मैं भी कितना मूर्ख निकला। मुझे चाहिए था कि उसे थोडी देरके लिए रोक लेता। उसके मनको ढाढस बंधाता, उसे शुभेच्छा प्रदान करता और यथाशक्ति उसकी सहायता करता। पर मुझे तो कुछ इस तरह काठ मार गया कि उसको देखनेका साहस नही रह गया था। अज़ीज़ाँ चली गयी और इधर मैं अपने ही बोझ तले दबा चला जा रहा था। मेरी अन्तरात्मासे एक हाहाकार फूट रहा था। एक आर्तनाद-सा उठ रहा था—"आह! मेरे देशकी बदनसीब नारी! तू चाहे अज़ीज़ाँ है या सत्या या हरबश कौर, अपनी पुरुष जातिकी ओरसे, आज मैं तुझसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। मैं भी उसी पुरुष-जातिका एक प्रतिनिधि हूँ — मैं चाहे नानकसिंह हूँ, चाहे देवीदास, चाहे गुलाम मुहम्मद, मैं तेरी

नारीत्वका कलंक हूँ, तेरी अस्मतका चोर, तेरी इज्ज़तका डाकू। ओह ! अपने सीनेमे माँका हृदय रखनेवाली नारी, अपने बदचलन पुत्रोको क्षमा कर – उनके अत्याचारो और दुराचारोको क्षमा कर, जिन्होने तेरी कोखको कलंकित किया, जिन्होने तेरे नारीत्वका अपमान किया।

और जबतक मै इन उद्गारोकी गहराईसे उबरा तबतक शायद अज़ीज़ाँ अपने मकानपर पहुँच चुकी होगी। रात बहुत कठिनाईसे बीती, दिल चाहता था कि सवेरा होते ही यहाँसे भाग निकलूँ, पर ट्रैफिकमे इन दिनो बहुत भीड रहती है, इसलिए एकाध दिन पहले ही सीट बुक करानी पडती है। सवेरे उठते ही मैने सीट बुक करा ली और फिर सवेरेसे लेकर अबतकके ये सात आठ घण्टे आखिर किसी-न-किसी प्रकार कट ही गये – कुछ घूमनेमे, कुछ लेटनेमे, कुछ कपडे धोनेमे और कुछ असबाब सँभालनेमे।

अभी दो घण्टे पहले मै उसी चरागाहसे लौटकर आया हूँ। काफी समय तक वहाँ अज़ीज़ाँकी प्रतीक्षामें घूमता रहा पर वह मुझे कही नही मिली। वहाँसे लौटते ही मैने अपनी यह डायरी निकाली है और लिखने बैठ गया हूँ।····

• •

• रचनाओंके अंश

उपन्यास

१. पुजारी
२. पवित्र पापी
३. अँधेरा उजाला
४ जीवन संग्राम
५. मँझधार
६. एक म्यान दो तलवारें
७. अणसीते ज़ख्म
८. आदमखोर
९ बाजार
१०. पाषाण पंख
११. चिट्टा लहू
१२. पुनर्मिलन

कहानी

१. ताशकी आदत

एकांकी

१. पापका फल

पुजारी

० ० ० ० ०

अबसे प्राय आध शताब्दी पहलेकी बात है जब वह घटना घटी, जो छोटी होत हुए भी मरे लिए इतनी बडी सिद्ध हुई कि समय पाकर वह मेरे समूच जोवनपर छा गयी। उस घटनासे पहले मुझे उसकी पृष्ठभूमिके बारेमें कुछ बताना आवश्यक जान पडता है।

पेशावर (सरहदो सूबा) में मै बाप दादाका चलाया हुआ धन्धा 'दूकानदारी' करता था। वही मैन बाल्यकाल व्यतीत किया और वही युवावस्थामें पदापण किया। बीस-बाईस वषका था जब मैं 'हिन्दू' से 'सिख' बना, जिसका कारण था एक सिख महापुरुषका मुझपर गहरा प्रभाव! इसके अतिरिक्त एक और कारण भो था – मेरे अन्तरमें प्रशसाकी भूख। उन दिनो मै तुकबन्दीमें रस लेन लगा था। साथ ही संगीतकी ओर भी झुकाव था। यह उस समयकी बात है जब कला जितनी महँगी थी, प्रसिद्धि उतनी ही सस्ती। फलत थोड-से गुणापर ही मै पाँचा सवारोम गिना जाने लगा।

जिन दिनोकी बात कर रहा हूँ सूबा सरहदीमें साम्प्रदायिकताका खूब बोलबाला था—प्राय वैसी ही हालत थी जैसी आज पजाबम है। आजकी ही तरह सिखो और हिन्दुआम साम्प्रदायिकताकी रस्साकशी होन लगी थी।

और इस पृष्ठभूमिकी भी एक पृष्ठभूमि थी, जो बहुत पुरानी होनेपर भी मझ भूली नही है। वह जमाना था जब हिन्दू और सिख दोनों सम्प्रदाय एक ही तनकी दो शाखाएँ मान जाते थे। दो 'कौमों' की बातोने अभी

जन्म नहीं लिया था। प्रत्येक हिन्दू अपनेको हिन्दूके अतिरिक्त सिख भी मानता था – प्रत्येक सिख अपनेको सिखके अतिरिक्त हिन्दू भी मानता था। गुरुद्वारों और देव-मन्दिरोंमें दोनों सम्प्रदायोंके लोग मिलकर पूजा-पाठ किया करते थे। धार्मिक त्यौहारोंके सम्बन्धमें भी इस बातका निर्णय नहीं किया जा सकता था कि अमुक सिखोंका है, अमुक हिन्दुओंका। हिन्दू घरोंमें ग्रन्थ साहिबका पाठ सुनाई देता और सिख घरोंमें रामायणकी कथा हुआ करती।

इस प्रकारका ऐक्य न केवल सूबा सरहदीमें ही, बल्कि पंजाब, सिन्ध, बिलोचिस्तान और काबुल-कन्धार तकमें व्याप्त था। पर कुछ ही वर्षों बाद युग-परिवर्तन दिखाई देने लगा। सिखों और हिन्दुओंका चोलीदामनका साथ पत्थर और घड़ेका साथ बन गया – प्रायः आज हो जैसा।

जहाँतक मेरी जानकारी है, सिखों और हिन्दुओं—दोनोंकी मूर्खताके फलस्वरूप ही तनातनी शुरू हुई। यदि और गहराईसे देखा जाये तो यह एक तीसरी सत्ताका कृपा-प्रसाद था – अँगरेज़ी हुकूमतका, जिसने आरम्भसे ही 'फूट डालो और राज्य करो' की नीतिको अपना रखा था। उन दिनों उसकी यही नीति फलीभूत हो रही थी।

वास्तविकता यह है कि जबसे देशमें 'आर्यसमाज' और 'सिंह-सभा' आन्दोलनका उत्थान हुआ, तभीसे दोनों ओर इस मनमुटावकी नींव पड़ी। यह माननेसे तो कोई भी इनकार नहीं कर सकता कि उपयुक्त दोनों आन्दोलनोंके अन्तर्गत सामाजिक तौरसे देशमें नयी जागृति पैदा हुई। पर इसके साथ ही कुछ ऐसी भूलें भी हुईं जिनके परिणामस्वरूप सिख और हिन्दू 'एक' से बदलकर 'दो' हो गये।

समयने आगे चलकर एक और करवट ली, जब सिंह-सभाकी कोखसे 'अकाली आन्दोलन' ने जन्म लिया। इस आन्दोलनके सन्दर्भमें सिखोंने एक ओर स्वतन्त्रताके सग्राममें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेना आरम्भ किया तो दूसरी ओर गुरुद्वारोंका सुधार भी कुछ कम नहीं किया।

पंजाबके गुरुद्वारोको दुराचारी महन्तो, पुजारियोंके चंगुलसे आजाद करानेके बाद अकालियोने पेशावर (सरहद) की ओर रुख मोडा, जहाँ 'गुरुद्वारा भाई जोगासिह' नामक एक ऐतिहासिक गुरुद्वारा महन्तोके कब्जेमें था। उसके फलस्वरूप साम्प्रदायिकताकी आग—जो वहाँ पहलेसे ही सुलग रही थी—एकदम भडक उठी। कारण ? इस गुरुद्वारेपर सिख और हिन्दू दोनो अपना-अपना अधिकार जताने लगे थे। हिन्दुओका कहना था कि यह गुरुद्वारा वस्तुत: 'जोगनशाह' नामक एक हिन्दू महात्माका स्थान था, जिससे हिन्दू ही इसके उत्तराधिकारी थे, सिख नही।

दूसरोका घर जलाकर आग तापनेवाले लोग सब जगह मौजूद रहते हैं। ऐसे ही कुछ लोगोने, जिन्हें अँगरेजोके पिट्ठू कहना चाहिए, दोनो पक्षोके लोगोको कुछ इस तरहसे भडकाना आरम्भ कर दिया कि देखते-ही-देखते लोग भभक उठे! फलत: अंधेरे-सवेरे हमले होने लगे। सिख मुहल्लोसे हिन्दू और हिन्दू मुहल्लोसे सिख निकल गये। आज यदि किसी हिन्दूपर हमला होनेकी खबर सुननेमें आती तो कल हिन्दू-द्वारा किसी सिखके पीटे जानेकी। पर जाने दीजिए इस लम्बी कथाको, मुझे तो इस 'घटना' के बारेमे बताना है।

तब मैं नया-नया सिख बना था। मजहबकी तबदीलीने मुझमे खूब जोश भर रखा था। जिन महापुरुषके प्रभावने मुझे सिख धर्मकी ओर आकृष्ट किया था, इन दिनो वे मुझे बुरे जान पडने लगे थे। यहाँतक कि मैंने उनसे मिलना तक छोड दिया था। क्योकि वे मुझे और मेरे साथियोको उन कामोसे बरजनेसे नही चूकते थे जिन कामोमें हम लोग उन दिनो भाग ले रहे थे।

जाडेका मौसम था, अँधेरी रात। बारह-साढे बारहका वक्त होगा। जोरकी ठण्ड पड रही थी। उस समय मेरे मकानपर — जो सडकके किनारे था — एक गोष्ठीका कार्यक्रम चल रहा था। हम लोग प्राय: आधा दर्जन युवक थे। हमें अपने 'दुश्मनो' से प्रतिशोध लेनेकी कोई योजना

बनानी थी तभी हमने खिड़कीसे देखा, सड़कपर एक हिन्दू चला जा रहा था – बगलमें छोटा-सा बिस्तर दबाये, जिससे जान पड़ता था कि गाड़ीसे उतरा है और शायद रास्ता भूलकर इधर आ निकला है। नहीं तो भला सिख मुहल्लेमें आधी रातके समय हिन्दूका क्या काम ?

सहसा मेरे मकानके सामने आकर वह रुका और हमें आवाज़ देकर किसी बाज़ारका रास्ता पूछने लगा। कदाचित् उसने हम लोगोंको बातें करते सुन लिया था। उसे देखते ही हम सब बाहर निकल आये और इससे पहले कि हममें-से कोई उसे रास्ता बताता, हम सभी उसपर टूट पड़े, और आनकी आनमें उसे धराशायी कर दिया। सारा काम इतनी फुरतीसे हुआ कि उस अभागेसे चीखते-चिल्लाते भी नहीं बना। तत्पश्चात् हम लोग उसे घसीटकर मकानकी पिछली ओर – जहाँ एक गिरे हुए मकानकी दीवारें खड़ी थीं – फेंक आये और साथमें उसका बिस्तर भी। इसके बाद सब कोई अपने-अपने घराम घुस गये। मैं भी अपनी 'वीरता'-पर गर्वित होकर घरके भीतर बिस्तरमें जा दुबका।

सुबहको किसीकी आवाज़ सुनकर मेरी नींद उचट गयी। डर होने लगा कहीं पुलिस तो नहीं आ धमकी है। पर दरवाज़ा खोलनेपर किसी और ही को खड़ा पाया। आगन्तुकने घबरायी आवाज़में पुकारा – "नानकसिंहजी, बाबाजीने आपको जल्दी बुलाया है। कहा है कि डॉक्टर-को भी बुलाते आइए, मरहम-पट्टीके सामान सहित।" इतना ही कहकर वह लौट गया।

वह व्यक्ति गुरुद्वारेका सेवादार (चपरासी) था। 'बाबाजी' से उसका आशय उन्हीं महापुरुषसे था, जिनकी महानतान मुझे सिखधर्ममें प्रविष्ट कराया था। वे स्थानिक गुरुद्वारेके ग्रन्थी थे। पिछले बहुत दिनोंसे मैं उनसे नाराज़ था, पर क्या मैं इतना कृतघ्न था कि उनके अनुग्रहको भी भूल जाता, और फिर ऐसे समयपर ? मन-ही-मन मैं सोचने लगा – क्या बाबाजी कहीं गिर पड़े हैं ? आँधी पानीका मौसम है, न जाने पाँव फिसल

गया हो, चोट अधिक ही आयी होगी, नही तो थोड़ी-बहुत मरहम-पट्टीका ढंग तो वे खुद भी जानते हैं ।

गुरुद्वारा निकट ही था ! कम्बल ओढ मैं घरसे निकला और डॉक्टरको साथ लेकर वहाँ जा पहुँचा । जाकर जो कुछ मुझे देखनेको मिला, आश्चर्य-का ठिकाना नही रहा । वही हिन्दू युवक था, जिसे हम लोग मरा या अधमरा समझकर अबसे कुछ घण्टे पहले फेंक आये थे । वह चारपाईपर बेहोश पडा था और उसके शरीरपर पट्टियाँ बँधी थी । निकट ही अँगीठी धधक रही थी । बाबाजी उसपर झुके हुए, जहाँ-तहाँ उसके अंगोपर सेंक कर रहे थे । मुझे देखते ही वे चिल्लाये – "आया डॉक्टर ?" डॉक्टर – जो मेरे पीछे आ रहा था – आगे बढ आया । इससे आगेकी वार्ता साधा-रण ही है । डॉक्टरने मरहम-पट्टी की, ताकतकी दवा दी (टीकेका रिवाज तब नही था) और फ़ीस लेकर चलता बना । कई दिनो तक डॉक्टर आया किया, मरहम-पट्टी होती रही । अन्तमे वह युवक स्वस्थ होकर स्वयं ही चला गया या उसका कोई सम्बन्धी आकर उसे ले गया, इसकी मुझे याद नहीं है ।

साधारणतया इसमे 'घटना'-जैसी कोई बात भी नहीं थी, जब कि उन दिनो ऐसा प्राय. होता ही रहता था । परन्तु जिस बातने मेरे लिए इसे एक असाधारण घटना बना दिया वह कुछ दूसरी ही थी । बाबाजी अकसर मुझे बताया करते थे कि उनकी आँखोंमे कभी भी आँसू नही आये है । यहाँतक कि जब उनका इकलौता, जवान पुत्र मरा था तब भी वे नही रोये थे और उन्ही आँखोमे-से इस समय मै 'टप-टप' आँसू गिरते देख रहा था । कैसे उस मार्मिक दृश्यकी व्याख्या करूँ, जो उस दिन मैने देखा । मेरे उस अमानुषिक आचरणपर यदि वे फटकार देते, जली-कटी सुना देते, दो-एक चाँटे भी मार देते, तो भी मैं इतना मर्माहत, इतना पीडित न हो उठता, जितना आँसुओमे भीगा हुआ उनका यह वाक्य सुनकर····

"नानकसिंह ! इससे अच्छा होता कि तुम मेरी छातीमें गोली मार देते ।"

और कहते-कहते उनकी अश्रुधारा और तेज हो उठी। वे ही आँखें, जो कई सम्बन्धियोंके, यहाँतक कि सगे पुत्रके चले जानेपर भी कभी नहीं भींगी थीं, गंगा-यमुना बहा रही थी, और बहा रही थीं मेरी दुष्टतापर। वह दिन गया, यह दिन आया। कभी भी मैं उन आँसुओंको, उस वाक्यको, उस घटनाको नहीं भुला सका हूँ।

मैं तब भी नानकसिंह था, और अब भी नानकसिंह हूँ – पर आज मैं पहले-जैसा नहीं रह गया हूँ। इसीके फलस्वरूप, जो वातावरण तब मेरे लिए उत्साहवर्धक था, आज रक्तशोषक बना हुआ है। आज हिन्दू और सिखके बीच ये दरारें देखकर मेरा हृदय कराह रहा है। और मेरे अन्त:करणसे बार-बार पुकार उठती है – "ओ स्वर्गीय बाबा! काश! आज तुम होते, और तुम्हारी आँखोंमें वही अश्रुकण होते, जिनसे पंजाबियोंकी कलुषित आत्माएँ धुल जातीं। अपने भाइयोंके विरुद्ध तनी हुई उनकी बाँहें, भाइयोंके गलेमें लिपट जातीं।"

पर क्या मेरी यह पुकार कभी फलीभूत होगी? क्या इसे सुनकर वह मानवताका पुजारी वहाँसे लौट आयेगा, जहाँ जाकर कभी भी कोई नहीं लौटा? न सही पर क्या मैं उन मानव-स्नेही 'बाबाजी' का एक शाब्दिक चित्र भी नहीं अंकित कर सकता? और एक मनोनीत चित्र बनानेमें मैं जुट गया।

कैसा रहा यह चित्र? इसके बारेमें मुझे कुछ नहीं कहना है – किसीसे कुछ नहीं पूछना है। मेरे लिए यदि कोई सन्तोषकी बात है तो यही कि जितना भी समय मैंने इस चित्रांकनमें व्यतीत किया, मेरे वे गुरुदेव साकार रूपमें मेरे समक्ष खड़े रहे। यह तो सम्भव है कि शारीरिक रूप-रेखा अथवा क्रियाओं-प्रतिक्रियाओंकी दृष्टिसे उन महापुरुष और इस चित्रमें कहीं कुछ अन्तर हो, पर मैंने तो इस कथा-द्वारा उनकी आत्माको चित्रित करनेका प्रयास किया है – शारीरिक भिन्नताका महत्त्व ही क्या है?

○ ○ ○ ○ ● ○

चौबीसवाँ परिच्छेद

दिन केवल दो ही बाकी थे – कल और परसों। उससे अगले दिन तो प्रॉपेगैण्डाकी सब प्रकारकी सरगरमीपर प्रतिबन्ध लग जाना था। इसलिए आँधी-पानीकी परवाह न करते हुए सभी अपने-अपने काममें जुटे थे। जलसों-जुलूसोंपर अब ज़ोर नहीं दिया जा रहा था, उन्हें सुनने-देखनेवालोंका अभाव था। अतः कॅन्वेंसिंगके कामपर ज़ोर-आज़माई होने लगी – वोटरोंके घरोंपर धावा बोला जाने लगा।

चन्दन आज प्रभातसे ही कॅन्वेंसिंगमें जुटा हुआ था। उसके साहसमें बिजलीकी तेज़ी थी। विशेषतया रातवाली 'वीरता'ने तो उसकी नाड़ियोंमें भीम-अर्जुनकी-सी शक्ति भर दी थी, जब कि एक 'दुश्मन'को घायल करके अथवा जहन्नुम रसीद करके वह बच निकला – उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ। पार्टीवालोंने जब उसका कारनामा सुना तो तारीफोंके पुल बाँधने लगे। पापाजी और ब्रजेन्द्र तो यहाँतक प्रभावित हुए कि दोनोंने अलग-अलग उसकी मुट्ठी गर्म की। चन्दनने एक सिख बुज़ुर्गका – जिसके बारेमें अफ़वाह थी कि हिन्दुओंने उसे ताँगेसे घसीटकर पीटा है, एक हिन्दू बुज़ुर्गसे बदला चुकाकर समूची सिख क़ौमकी शानको चार चाँद लगा दिये थे।

लोगोंने दीवारोंपर एक सरकारी ऐलानका पोस्टर लगा देखा, जिसमें लिखा था : "चौक फव्वाराकी घटनाके बारेमें गलत अफ़वाहें उड़ायी गयी हैं कि किसी सिखको ताँगेमें-से घसीटकर पीटा गया है। असलमें यह एक साधारण-सा एक्सीडेण्ट था, अर्थात् एक ताँगेकी कूड़ागाड़ीसे टक्कर हो गयी, जिससे एक वृद्ध सवारीको कुछ चोटें आयीं, साथमें ताँगेवालेको भी। दोनोंको अस्पताल पहुँचाया गया, और कूड़ागाड़ीवालेका चालान कर दिया गया। घायलोंकी हालत हर प्रकारसे सन्तोषजनक है। जो लोग इस घटनाको साम्प्रदायिक रंग देकर उछाल रहे हैं, वे देशके

सबसे बडे दुश्मन है। इस प्रकारके लोगोकी बातोमे आकर जनताको अपने मस्तिष्कका सन्तुलन नही खोना चाहिए। ऐसे फसादी लोगोंको भी चेतावनी दी जाती है कि उनकी इस प्रकारकी क्रियाओको हुकूमत हर्गिज़ बरदाश्त नही करेगी·····।"

इस ऐलानको पढकर चन्दनके दिलको हलका-सा झटका लगा, पर उसने यही सोचकर सन्तोष किया कि चाहे कुछ भी हो, था तो हिन्दू ही अर्थात् दुश्मन। और दुश्मन दोषी हो या निर्दोष, उसे मारना मेरा धर्म ही था।

उम्मीदवार चाहे हज़ार चालाकीसे काम ले, पर वोटर अब इतने भोले नही रहे है। वे खूब जानते है कि जो लोग आज वोटोकी खातिर उन्हे 'चाचाजी, बापूजी' कहकर पुकारते है या फुसला रहे हैं – मतलब निकल जानेपर वे उन्हे 'बेटा' कहकर बुलानेके भी रवादार नही होगे। यही सोचकर अधिक वोटर अपने वोटोके पूरे-पूर दाम वसूल किये बिना नही मानते। कुछेक गुरु-घण्टाल तो दुगुनी-चौगुनी तक कोमत पा लेते है। उनके पास जिस उम्मीदवारकी भी पार्टी कन्वेंसिगके लिए आती है उसीसे वोट देनेका वादा करके अपना पारिश्रमिक वसूल किये चले जाते है। पर वोट देगे तो उसीको जिसने सबसे अधिक दाम दिया हो अथवा जिससे उन्हे भविष्यमे अधिक लाभकी आशा हो। वे लोग जानते है कि बैलेट-बॉक्समे परची डालते समय उन्हे कोई देखता नही है, चाहे जिसमे भी वे डाल दे।

चन्दन आज दिन-भर इसी भाग-दौडमे लगा रहा। वह प्रसन्न था कि जिस भी वोटरके पास वह अपनी पार्टीको लेकर गया उसके मुँहस 'हाँ' कहलाये बिना नही लौटा। आज उस खाने-पीन तककी सुध नही थी – न भीगने-ठिठुरनेकी परवाह।

शामको जब वह लौटा तो थकावटके मारे उसका शरीर चूर-चूर था। भूख भी खूब लग आयी थी। पर आज और कल ही के तो दिन

दिन बाक़ी थे – आराम करनेका प्रश्न ही कैसे पैदा हो सकता था। उसे तो अभी पोस्टरोंका एक बडा बण्डल रातों-रात समाप्त करना था – एक भी बचने न पाये, ऐसा ही उसने सोच रखा था।

मकानपर पहुँचनेसे पहले वह होटलमें जा घुसा, और जाते ही उसने व्हिस्की और मास-मछली-द्वारा अपने शरीरको डबल शिफ्टके लिए तैयार किया।

मकानपर पहुँचकर उसने देखा, महँगासिहने रोजकी तरह लेई बनाकर बाल्टीमें भर रखी थी। थोडी देर – एक-डेढ घण्टेके लिए उसने बिस्तरमें लेटकर कमर सीधी की, और फिर उठ खडा हुआ। वर्षा ज़ोरसे हो रही थी, जो उसके लिए नयी बात नहीं थी। बीते कई दिनोंसे ऐसा ही चल रहा था, और वह इसका अभ्यस्त हो चुका था। अतः उसने रेन-कोट फिरसे पहन लिया, टार्च जेबमें रखी, बण्डल सँभाला, बाल्टी और सीढी ली, साथमें लाठी भी, और खट्-खट् सीढियोंसे उतर गया।

पोस्टर लगानेका काम वह विधिपूर्वक किया करता था। सबसे पहले बाज़ारोंमें, फिर सिख मुहल्लोंमें, और सबके बाद प्राय आधी रातको हिन्दू आबादीमें। तबतक सब कोई सो चुके होते, और उसे रोक-टोकका भय नहीं रहता। आज भी उसी क्रमानुसार उसने काम शुरू किया।

उसके काममें बाधा पड रही थी। वर्षामें पोस्टर चिपकाना कठिन हो जाता है। जैसे ही वह बण्डलमें-से २० × ३० फुल साइज़का शीट निकालकर उसपर लेई थोपना शुरू करता कि कागज़ पानीमें भीगकर सिकुडने लग जाता। दूसरी कठिनाई उसे तेज़ हवा चलनेसे हो रही थी।

एक बजनेको था, जब वह एक हिन्दू आबादीकी ओर आगे बढ़ा। कुल एक या अधिकसे अधिक डेढ घण्टेका काम उसके लिए बाकी था। पर ठण्डके मारे उसका शरीर सुन्न हुआ जा रहा था। वर्षामें कुछ भी कमी नहीं हुई, हवा पहलेसे भी तेज़ चलने लगी थी। होटलमें पी हुई

व्हिस्कीका असर प्रायः समाप्त हो चुका था। उसे पश्चात्ताप होने लगा कि अगर जानता कि आज इस ग़ज़बकी सर्दी पड़ेगी तो एक या आधी बोतल जेबमे ही रखकर लिये आता।

अब वह मुहल्लेके एक बडे-से मकानके सामने था, जिसकी दीवारपर पहलेसे ही दो-तीन बडे पोस्टर लगे हुए थे। टार्चकी सहायतासे देखनेपर जब उसे पता चला कि ये उसके पापाजीके विरोधियोने लगाये हैं तो क्रोधके मारे वह तिलमिला उठा। उन्हीके ऊपर वह अपने पोस्टर लगाने लगा।

पहला लगाया, फिर दूसरा। और जब तीसरेपर लेई थोप रहा था तो पीछेसे उसे कीचड़मे चलते हुए भारी-भारी बूटोंकी 'थप-थप' आहट सुनाई दी। उसके हाथ लेईसे सने हुए थे। उन्हीं सने हाथोसे उसने जेबसे टार्च निकालकर पीछेकी ओर उसकी रोशनी डालकर ताका। एक नही बल्कि चार-पाँच व्यक्ति उसकी ओर बढे चले आ रहे है – सभी हिन्दू, सबके हाथोमे लाठियाँ अथवा हॉकी-स्टिकें। देखकर वह डरा भी और सँभला भी।

तभी उधरसे टार्चकी रोशनी आकर उसके मुँहपर पडी, साथमें एक कर्कश आवाज़ भी – "कौण एं ओए तूं – किस दी इजाजत नाल इश्त-हार ला रिया ए?"

खतरा सिरपर मँडराता देखकर चन्दनने बचे हुए पोस्टर वही फेक दिये, और अपनी लाठीको – जो दीवारके साथ उसने खडी कर रखी थी – सँभालते हुए पुकारा – "तुसी कौण हो पुछण वाले?"

उधरसे प्रत्युत्तर आया – "दसीए तैनू कि असी कौण हा?"

चन्दन उससे भी बढकर दहाडा – "कौण जम्मया ए मेरे नेडे आऊण वाला?" और कहते-कहते उसने अपनी लाठी ऊपर उठाकर हवामे घुमायी। पर इससे पहले कि वह प्रहार करता, क्षण-भरमे वे चारो-पाँचो युवक उसपर टूट पडे, और दनादन लाठियो, हॉकी-स्टिकोकी वर्षा उसके

शरीरपर होने लगी। फलतः चन्दनका शरीर लड़खड़ा कर 'धम्' से वहीं कीचड़पर गिर पड़ा।

गिरनेके बाद उसने उठनेके लिए बहुत यत्न किया, पर तबतक उधरसे उत्तरोत्तर पाँच-सात चोटें उसके शरीरपर आ पड़ीं, अर्धचेतनावस्थामें उसे सुनाई दिया – "हिन्दू बुजुर्ग दा बदला चुका लिया – चलो भज चलो – मते पुलस.....।"

मूर्छित अवस्थामे वह कितनी देर तक वही कीचड़मे पड़ा रहा, कितना खून उसके शरीरसे निकला, जिसका कितना भाग वर्षाके पानीने धोया, इसे न तो चन्दन जान पाया न ही कोई और। पोस्टरोंका वह बचा-खुचा बण्डल अलग-अलग काग़ज़ोके रूपमें उसके आस-पास कीचड़मे सना पड़ा था। लेईकी बाल्टीमे पानी भर गया था। लाठी उसके वक्षके पास लेटी हुई थी और टार्च उसके पाँवोके पास पड़ी थी – आधी कीचड़मे, आधी बाहर।

सहसा उसके शरीरमें गति पैदा हुई। माथेपर-का खून आँखोंमे भर जानेसे वह कुछ देख नही पा रहा था। उसका दायाँ हाथ, जिसपर अभीतक लेईका कुछ अंश बाकी था – थोड़ा हिला, जिसकी सहायतासे उसने आँखोको पोछा, जिससे उसे कुछ-कुछ दिखाई देने लगा, पर अँधेरेके सिवा कुछ नही। उसने पूरे शरीरका ज़ोर लगाकर एक बार फिर उठनेका यत्न किया, और इसमे उसे कुछ सफलता मिली। पर इसका कुछ लाभ नही हुआ ? घने अँधेरेके कारण उसे कोई भी ऐसी जगह दिखाई नही दे रही थी जहाँ पहुँचकर वह अपनेको सुरक्षित कर पाये।

सहसा बिजली चमकी, जिसके प्रकाशमे कुछ ही कदमोंपर उसे एक बरामदा दिखाई दिया। इसी प्रकाशकी सहायतासे उसे लाठी भी मिल गयी, जिसका उसे इतना लाभ तो हुआ ही कि वह किसी प्रकार अपनेको

ठेलते-घसीटते बरामदे तक जा पहुँचा। पर वहाँ पहुँचते ही उसे फिर बेहोशीने दबोच लिया।

आध-पौन घण्टे बाद फिर उसे होश हुआ। वह मुँहके बल लेटा था और बाहरसे आती हुई बौछार उसे भिगो रही थी। उसने एक बार फिर शरीरको हिलाया-डुलाया, और साँपकी तरह रेंगता हुआ भीतरकी ओर दरवाजेके निकट तक जा पहुँचा जहाँ बौछार आनेकी सम्भावना नही थी। उसने उसी अधचेतनावस्थामे देखा, दरवाजा बन्द था और उसकी दरारमे-से प्रकाशकी पहली रेखा आकर बरामदेमे फैल रही थी। उसने थोडा और सरककर देहरीपर सिर टिका दिया। पगडी नही थी, और कीचडमे सने अस्त-व्यस्त केश उसके चेहरे, कन्धो और वक्षपर चिपके हुए थे।

होश क्या फिरा, उसके लिए प्रलय ही आ गया। ठण्डसे अकडा हुआ शरीर और शरीरपर न जाने कितने ही घावोकी पीडा उसे मारे डाल रही थी।

होश फिरनेके साथ-साथ उसका भय भी बढने लगा – हिन्दुओका मुहल्ला, किसी हिन्दूका ही घर। क्या जाने कब कोई आकर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दे। और यदि ऐसा नही भी हुआ तो इतने घावोके साथ इस ठण्डमे पडे-पडे क्या वह सवेरे तक जीवित रह जायगा? इधर भी मौत, उधर भी मौत।

कही पडा-पडा वह दर्दके मारे कराहने लगा, बिना यह सोचे कि उसकी आवाज कहाँतक जा रही है। मृत्यु जब हमारे निकट आ पहुँचती है तो मृत्युके शीघ्रकक अतिरिक्त हमे और सब कुछ भूल जाता है। और जब वह थोडा और निकट आ जाती है तो हम उसके बारेमे सोचनेमे भी असमर्थ हो जाते है। पर ऐसे समय भी अतीतकी यादे क्या हमारा पीछा छोडती है?

अचानक अनेक यादोमे उलझे हुए, उसके कानोमे कुछ सुनाई दिया – किसीके कराहने-जैसी आवाज – 'हे भगवान्!' 'हे अन्तर्यामी!' वह

सोचने लगा – तो क्या इस घरमें भी कोई मेरे-जैसा अभागा मौतकी प्रतीक्षा कर रहा है ? जैसे-जैसे भीतरसे आ रही पीड़ित आवाज़ें उसे सुनाई देने लगीं, उसका ध्यान उसी ओर खिंचता चला गया।

थोड़ी देरमे जब आवाज़ें आनी बन्द हो गयीं तो चन्दनने अनुमान किया शायद अन्दरवाला वह रोगी चल बसा हो, या किसीने उसे नींद लानेवाली दवा दे दी हो। वह सोचने लगा – काश, मुझे मौत आ जाये – मुझे भी नींद लानेवाली एक दवा कहींसे मिल जाये !

आवाज़ फिर आने लगी, पर चन्दनको यह पहले-जैसी नहीं जान पड़ी। पहलेवाली यदि किसी मरणासन्नका आर्तनाद थी तो वह दूसरी थी माधुर्यमें सनी हुई, किसी नवयौवनाकी, जिसे सुनकर थोड़ी देरके लिए वह किसी अंशमें अपना कष्ट भूल-सा गया। थोड़ा और सरककर उसने दरवाज़ेके पटसे अपना दायाँ कान सटा दिया। पर बाहर चल रहे बवण्डरके कारण वह आवाज़ स्पष्टत: नहीं सुन पा रहा था। तब उसने बायाँ कान – जिसमें अन्धड़का शोर पड़ रहा था – हाथसे बन्द कर लिया। अब एक गीतके शब्द उसे अंशत स्पष्ट सुनाई देने लगे। जितना मधुर स्वर था उतने ही मार्मिक शब्द। क्या उसने अपने जीवनमें पहले भी कभी यह कण्ठ-स्वर सुना है ? इसका निर्णय करनेका सम्भवतः उसके पास अवसर या अवकाश नहीं था। उसका समूचा शरीर मानो कान बनकर इन गायी जा रही पंक्तियोंमें खोया जा रहा था

"बरसो-बरसो मेघ ! अभी यह,
धरा बहुत है प्यासी।
इसके कण-कण में युग-युग की,
प्यास भरी अविनाशी !...."[1]

इन मनोहर पंक्तियोंने मानो चन्दनकी शारीरिक और मानसिक

१ श्री मोहनसिंह 'सेंगर' का यह गीत 'धर्मयुग' से लिया गया है। अतः कवि और सम्पादक महोदयको धन्यवाद। —लेखक

यन्त्रणाओंको चूसना आरम्भ कर दिया। साथ-साथ गानेवालीकी मूर्खतापर उसे आश्चर्य भी हो रहा था – "कितनी बे-समझ है, जो इस भयानक बारिशके होनेपर भी अभी इसकी ओर याचना कर रही है। क्या ऐसी प्रलयकारी बारिशसे अभीतक धरतीकी प्यास नही मिट पायी है ?"

ज़ोरसे बिजलीकी कडकडाहट हुई, जैसे कहीं निकट हो गिरी हो। उसे डर लगने लगा। पर डर अधिक देर तक नही टिक पाया, जब उसे कुछ और पक्तियाँ सुनाई देने लगी :

'आज धरा के पुत्र सभी,
बन बैठे सत्यानाशी।
भाई का पी रक्त, प्यास,
बुझ सकी नहीं भाई की।
बरसो-बरसो मेघ! अभी यह,
धरा बहुत है प्यासी।...."

व्यग्यात्मक प्रकारकी हैरानीके स्थानपर अब चन्दनके मानसको करुणा स्पर्श करने लगी। उसे यह गीत किसी मानव-हितैषी हृदयका आर्तनाद-सा जान पडने लगा। उसके हृदयमे स्पन्दन-सा हो रहा था, और उस स्पन्दनमे गीतके ये शब्द भरते चले जा रहे थे :

"हाय दयामय! इन पुत्रों ने,
माँ को बहुत सताया।
आपस में लड़-लड़ इन्होंने,
माँ का दूध लजाया।
खण्ड-खण्ड कर बाँट लिया,
इसको कर अपनी दासी।
बरसो-बरसो मेघ! अभी यह,
धरा बहुत है प्यासी।...."

बहुत गहरी, बहुत ही लम्बी साँस ली चन्दनने – 'माँका दूध

लजाया ? सच ही तो है !'

'खट्' से चन्दनको जैसे अपने अन्तरमें कुछ टूटता-सा लगा जब उसने और सुना :

"आज बना पंजाब है, प्रभु जी,
इक भूतों का मेला।
भूल गया पथ जिसमें आकर,
हाय ! विवेक अकेला।
मुरदों को भी खोज-खोज,
लटकाना चाहें फाँसी !
बरसो-बरसो मेघ ! अभी यह,
धरा बहुत है प्यासी।...."

चन्दन सुने जा रहा था, और सुननेके साथ-साथ कल्पित आँखों-द्वारा 'मेला' देखे जा रहा था। मेला, जिसका चन्दन अपनेको नायक पा रहा था। वह भाइयोंका रक्त पी रहा था—वह माँका दूध लजा रहा था—वह मुरदों-जैसे निर्बलोंको खोज-खोजकर जहन्नुम पहुँचानेमें लगा था।

उसके द्रवीभूत होनेमें यदि अभी भी कुछ कमी रह गयी थी तो उसे इन पंक्तियोंके उच्चारणने पूरा कर डाला :

"आज मृत्यु के सौदागर बन,
ये नर-भक्षी धाये।
अगणित बसते भवन जिन्होंने,
हैं श्मशान बनाये।
शान्त करो ज्वाला की लपटें,
शीघ्र छोड़ जल-राशी।
बरसो-बरसो मेघ ! अभी यह
धरा बहुत है प्यासी।"

बहुत भारी संघर्ष मच रहा था इस समय चन्दनके अन्तरमें। गीतकी पंक्तियाँ मानो चाबुक बनकर उसकी दानवीय और पाशविक वृत्तियोंपर तड़ाक्-तड़ाक् पड़ रही थी—उसकी चमड़ी उधेड़ रही थी। मानो उसके जीवनमें कहींसे कोई दैवी शक्तियोंकी प्रतिमा उभर आयी हो, जो गीत गाकर नहीं बल्कि अपना कलेजा चीरकर उसे दिखा रही हो। साथ ही साथ उसे धिक्कार भी रही हो—'नराधम! क्या तू भी उन्हींमें-से एक है जिनके हाथ मानवीय रक्तसे रँगे हुए है, जिन्हें अपनी माँको सतानेमें मजा आता है—जिन्हें भाइयोंका रक्त माँके दूधसे भी बढ़कर मीठा लगता है?'

उधर गीत समाप्त हुआ, इधर घावोंकी पीड़ा फिरसे उसे तड़पाने लगी। मानो सच ही उसे किसीने नींद लानेवाली दवा दे दी थी, जिसके असरने उसे इतनी देर तक पीड़ाका आभास तक नहीं होने दिया था। और अब जिसका असर मिट चुका था। उसकी चिल्लाहट बढ़ने लगी।

इससे पहले कि बेहोशी आकर उसकी चिल्लाहटको शान्त कर देती, सहसा उसे कुछ खटका-सा सुन पड़ा, फिर दरवाजेका पट—जिसकी देहरीपर उसने सिर टिका रखा था—शनै-शनै पीछेको सरकने लगा। साथ-साथ भीतरसे आ रही प्रकाशकी वह पतली रेखा मोटी, और मोटी, और मोटी होती होती अन्तत समूचे बरामदेमें फैल गयी।

सारा बल जुटाकर आ रही मूर्च्छामें अपनेको बचानेका यत्न करते हुए उसने सिर उठाकर ऊपर ताका। पटका दो-तिहाई भाग खुल जानेपर उसे लम्बी चोटी सहित एक युवतीका सिर बाहर निकलता दिखाई दिया, और फिर समूचा शरीर। किंकतव्यविमूढ-सी चन्दनकी आँखें जहाँकी तहाँ थमकर रह गयी। मानो किसीने इन्हें कील दिया हो।

युवतीके शरीरपर इस समय कोई गरम कपड़ा नहीं था, जिससे ठण्डी हवामें आनेपर उसे कँपकँपी होने लगी थी।

गड़ी हुई आँखोंके समान ही एक क्षणके लिए चन्दनकी साँस भी रुक गयी। सहसा उसके अन्तरसे कोई पुकार उठा—आँय ! यह—यह तो—यह क्या—वही—?" और इससे आगे वह कुछ नहीं सोच-समझ पाया—भावावेशने अथवा घावोंमें-से अधिक खून निकल जानेके कारण कमज़ोरीने उसको चेतनापर फिरसे हल्ला बोल दिया। उसके सिरमें ज़ोरसे चक्कर आया। पर इससे पहले कि उसका सिर देहरीसे टकराता, युवतीकी कोमल बाँहोंने उसे थाम लिया।

● ●

पवित्र पापी

० ० ० ० ०

पुस्तकका नाम कुछ अटपटा-सा जान पडेगा और किसी सीमा तक असगत भी, यह मै जानता हूँ। परन्तु मानव-जीवन ऐसा विशाल समुद्र है जिसमें सभी प्रकारके सगत तथा असगत पदार्थ और प्राणी पाये जाते है।

यहाँ आप एक युवक 'केदार' तथा एक किशोरी 'वीणा को मानवता-के स्टेजपर प्रस्तुत पायेगे। दोनो एक दूसरेके लिए अपरिचित होते हुए भी 'भाई-बहन'के स्नेह-बन्धनमे कैसे बँध गये? इसमे कुछ तो सस्कारोका हाथ रहा, कुछ घटनाओ और कुछ वातावरणका। धर्मभाई केदार अपनी धर्म-बहन वीणा तथा उसके परिवारके लिए क्या कुछ नहीं करता? यहाँतक कि उन लोगोको ऋण-मुक्त करानेके लिए वह अपने स्वामीकी चोरी करनेसे भी नही चूकता है। परन्तु इस विधिकी विडम्बना कहिए अथवा दुर्भाग्यका प्रकोप कि केदार उस जगह जा पहुँचता है जहाँ पहुँच-कर उसका पवित्र हृदय पाप-ग्रस्त हो उठता है। वीणाका भगिनी-भाव उसके लिए असह्य हो उठता है। उसे 'धर्म-बहन'मे 'प्रेमिका'की पर-छाइयाँ, दीखने लगती है। उसके अन्तरमे 'वासना'का ज्वालामुखी फट पडता है। उसके सचित अमृत-कुण्डमे हलाहलकी बूँदें चू पडती है। परन्तु इतना होते हुए भी वह अपनेमे उस साहसको नही बटोर पाता जिसके द्वारा वह अपनी कलुषित भावनाको वीणाके आगे प्रकट कर सके। ऐसा ही कुछ प्रभाव वीणाके व्यक्तित्वका है। उसे भय है कि

यदि वीणाको इसका पता लग जायेगा तो उसके अभिशापकी आग उसे भस्म कर डालेगी। परन्तु ज्वालामुखी तो ज्वालामुखी ही होता है, क्या उसके अन्तस्तलसे अग्नि-क्षरणकी बजाय हिमपात हो सकता है ?

एक लम्बे समय तक केदार अपनी कामातुर अवस्थामें भीतर-ही-भीतर सुलगता रहा, जिसके फलस्वरूप उसका शरीर प्रतिदिन क्षीण होने लगा। वीणा और उसकी माँ, दोनो ही उसके बारेमें चिन्तातुर रहतीं। बहुत बार उससे पूछा जाता – "केदार, तुझे क्या होता रहा है, बेटा ?" "···भैया, क्या आप कुछ बीमार हैं ?" और उत्तरमें केदार इधर-उधरके बहाने तराश कर उन्हे टाल देता।

वीणाके विवाहका मुहूर्त। केदारका स्वास्थ्य बिगडते-बिगडते चरम सीमापर था। फिर भी वह अपनी नौकरी अथवा दूसरे कामोंमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आने देता। इसी बीच वीणाके पिता एक रहस्यमय कारणसे घर त्याग कर न जाने कहाँ चले जाते हैं। परन्तु केदार-द्वारा उन्हे झूठ-मूठ यही कहा जाता है कि वे बम्बईमें नौकरी कर रहे है। इस झूठ बोलनेमे केदारका अभिप्राय यही रहता है कि वे दोनो घबरा न जाये। गृहस्वामीकी अनुपस्थितिमें उनके घरकी सारी जिम्मेदारियाँ – यहाँतक कि वीणाके विवाह-कार्यका दायित्व भी – केदारने अपने ऊपर ले रखा है। वीणाके विवाहकी तैयारी हो चुकी है ! बारात आनेमे केवल एक दिन बाकी है कि अनायास ही एक घटना घटती है। सब किसीका खयाल है कि पिताकी अनुपस्थितिमे 'धर्म-भाई' ही वीणाको पालकीमे बिठानेकी रस्म पूरी करेगा। पर जब वह समय आता है, तब केदारका कही पता नही चला।···कहाँ गया वह – क्यो चला गया ?

० ० ० ० ० ०

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

ब्याहका दिन आखिर आ ही पहुँचा, पर जिस व्यक्ति (पिता) की सारे परिवारको प्रतीक्षा थी, वह नहीं आया। पास-पड़ोसके लोग आपसमें

बाते करते थे – 'कैसा अन्धेर है, घरमे लडकीका ब्याह रचा हुआ है, और पिताको नौकरीकी पड़ी है ! भला, क्या चार दिनोके लिए भी वह नही आ सकता था ? बम्बई कौन समुन्दर पार था·····?

इधर केदारके हीले-हवाले, जितने वह कर सकता था, सब खत्म हो चुके थे। कई बार वह बैठा-बैठा अपनेपर झुँझला उठता – "मैने यह क्या मुसीबत मोल ले ली, मुफ्तमे ! पर अब क्या होगा ? क्या सारा भेद खोल दूँ ? पर ऐसा करनेसे मेरी क्या स्थिति होगी ? जिसे मै धर्मकी माता स्वीकार कर चुका हूँ, क्या उसका रोम-रोम मुझसे घृणा नही करने लगेगा ? क्या पुत्रकी जगह वह मुझे आस्तीनका साँप कहकर मेरा तिरस्कार नही करेगी ?"

केदारके दिलको हर समय झँझोडनेवाली एक ही चिन्ता नही थी, इससे भी कही बढ़-चढकर खतरनाक चिन्ता एक और थी, जिसका प्रभाव उसके मनके सिवा शरीरपर भी पड रहा था। वीणाके ससुराल जानेका दिन अब बहुत दूर नही था। केदार जानता था कि वीणाके साथ उसका क्या रिश्ता है, पर यह जानते हुए भी वह समझ नही सकता था कि उसके अन्दर क्या हो रहा है। बहनको ससुराल भेजनेमे किसी भाईको जो खुशी हो सकती है, वह केदारको भी थी। वीणा सुहागका सुख जी भरकर उठाये। यह कामना उसके मनमे कोई कम नही थी; पर यह सब होते हुए भी केदार व्यथित और बहुत ही खिन्न था।

वीणा इतनी बच्ची न थी जो केदारकी मानसिक अवस्थाको न समझ पायी हो। बल्कि कई हालतोमे वह केदारसे भी अधिक अनुमान लगा लेती थी – जब वह देखती कि केदार अब उसके सामने आनेसे कन्नी काटता है और दूकानमे लौटकर दरवाजा बन्द कर चुपचाप चारपाईपर पडा रहता है।

केदारको धैर्य बँधानेके लिए वीणा अनेक उपाय करती। किसी-न-किसी बहाने, और नही तो चाय पिलानेके बहाने ही, वह उसके साथ

एकान्तमें कुछ बातचीत करना चाहती; पर केदार था कि उसे अवसर ही नहीं देता। जब कभी वीणा उसे बहुत परेशान करती, तो वह खीझकर कहता — "वीणा, अगर तुम बहुत तंग करोगी, तो मैं कहीं चला जाऊँगा।" और वीणा निराश होकर लौट आती।

वीणा प्रत्यक्ष देख रही थी कि केदार इस समय एक भारी तपस्या, त्याग, अथवा कोई कठिन बलिदान कर रहा है, जिसके फलस्वरूप उसका स्वास्थ्य, उसके मनकी शान्ति और उसकी जवानी — सब रसातलकी ओर जा रहे हैं। पर क्या वीणाके पास इसका कोई इलाज था? एक बार फिर कह देखूँ — शायद इससे भैयाको लाभ हो! यह विचार कई बार वीणाके हृदयमें उठा, पर केदारने उसे बातचीत करनेका कभी अवसर ही नहीं दिया।

ब्याहका कार्य आरम्भ हुआ। मातृपूजा हो गयी। न्यौते भेजे गये। पकवानोंके लिए घरमें हलवाई लगवाया गया, दरजी बिठाया गया। गानेके लिए लड़कियोंकी मण्डली इकट्ठी हुई। केदारको भी दूकानसे कुछ दिनोंकी छुट्टी लेनी पड़ी। काम-काजका भार उसीके सिरपर आया। वह दिन-रात काममें जुटा रहता। किसी समय भी खाली नहीं बैठा। कदाचित् इसलिए कि काममें लगे रहनेसे उसकी वे टीसें कुछ हलकी पड़ जाती।

कई दिनोंसे वीणाका केदारसे साक्षात् नहीं हुआ था। मातृपूजामें बैठी किसी लड़कीके लिए कमरेसे बाहर निकलना अपराध समझा जाता है। उसका दिल चाह रहा था कि केदार कहींसे आते-जाते ही उसे एक नजर दिख जाये। पर उसकी आशा सफल नहीं हुई। केदारने जैसे इस कमरेका रास्ता ही छोड़ दिया हो।

मनचाही चीजकी प्राप्तिमें ज्यों-ज्यों विलम्ब होता है, त्यों-त्यों उसे पानेकी लालसा और भी बढ़ जाती है। केदारसे एक बार मिलकर उसे अपने अमिट स्नेहका विश्वास दिलाने और उसे जीवित रहनेको प्रेरित

करनेके लिए वीणाका मन तड़प रहा था। और इस काममें ज्यों-ज्यों ढील पड़ती गयी, वीणाकी मिलन-तीव्रता और भी बढ़ती गयी। आखिर जब उसके ब्याहके दो ही दिन बाकी रह गये, और अब भी उसकी आकांक्षा पूरी न हुई, तब वह और भी घबरा उठी।

आज सवेरेसे वीणाका मन बहुत अधिक व्याकुल है। लड़कियोंने बहुत कोशिश की, माँने भी, पर वीणाने रोटी नहीं खायी। सारा दिन उसने इन्हीं चिन्ताओंमें गँवा दिया – केवल कलका ही तो दिन है, परसों दिन चढ़ते ही मैं किसी दूसरे घरकी ओर जा रही हूँगी। क्या एक बार इससे पहले भैयासे नहीं मिल सकूँगी?….' आधी रात हो गयी। लड़कियों-को ढोलक अपने पूरे ज़ोरसे बज रही थी। गाते-गाते उनके गले बैठ गये, ढोलक बजानेवालीके हाथ लाल हो गये, टिकोरा लगानेवालीका हाथ थक गया, पर अभीतक वे हटनेका नाम नहीं लेती थीं। एक गीत समाप्त होता तो दूसरा आरम्भ हो जाता।

उस छोटे-से कमरेमें दरी बिछी हुई थी, जिसपर पन्द्रह-बीस लड़कियाँ बैठी गा रही थीं। बारह बज गये, इसके बाद एक, पर गानेकी महफिल-में ज़रा भी शिथिलता न आयी ब्याहका आखिरी दिन जो था, कल बारात आनेवाली थी। बड़ी-बूढ़ियोंने जब नाराज़ होना शुरू कर दिया – क्योंकि निद्रामें विघ्न पड़ रहा था – तब जाकर यह सिलसिला बन्द हुआ। कई लड़कियाने तो, जो गानेकी बहुत शौकीन थीं, आजकी सारी रात इसी प्रकार बितानेका निश्चय कर लिया था, पर, दूसरे कमरेसे आ रही झिड़कियाने उनकी चलने न दी। पास-पड़ोसकी जो दस-पाँच लड़कियाँ आयी थीं, वे अपने-अपने घर चली गयीं, बाकी जो न्योतेमें आयी थीं जहाँ जगह मिली वहीं लेट गयीं।

लड़कियोंके घेरेमें वीणा इस समय अपने भविष्यकी शायद कल्पनाकी आँखोंसे देख रही थी। धीरे-धीरे सब लड़कियाँ गहरी निद्राकी मीठी गोदमें सो गयीं, पर वीणा अभीतक जाग रही थी। उसके सामने ही

ताकमें धीमी धीमी लालटेन जल रही थी, जिसकी बत्ती सोनेसे पहले किसी लडकीने नीची कर दी थी। वीणाकी दृष्टि इस समय उसी धीमी ज्योतिपर जमी हुई थी।

उसे कुछ खयाल आया और वह उठकर बैठ गयी। घूमती दृष्टिसे उसने सब सोयी हुई लडकियोंकी ओर देखा, फिर अपनी दाहिनी ओर सोयी हुई विद्याकी ओर दृष्टि फेरी, जो शायद मच्छरके काटनेसे खुजलाती हुई करवट बदल रही थी। वीणाने उसका हाथ पकडकर एक-दो बार हिलाया। आँखें खोलकर उसने वीणाकी ओर ताका। वीणाने उसे उठाकर इशारेसे अपने पीछे-पीछे आनेको कहा और लालटेन उठाकर कमरेसे बाहर निकली। चुपचाप विद्या भी उसके पीछे चली आयी। बाहर सीढियोंके पास जाकर उसने विद्याके कानमें कहा – "मैं ऊपर जाकर सायबानमें बैठती हूँ, और तू जाकर भैयाको बुला ला।" जब विद्या जाने लगी, तो इतना वीणाने और कह दिया – "मेरा नाम न लेना। कहना कि माताजी बुला रही हैं।"

वीणा ऊपर सायबानमें जा बैठी। थोडी देर बाद उसे किसीके पाँवकी आहट सुनाई दी।

"कहाँ हैं माताजी ?" – केदारने जब आशाके विपरीत, मायाकी जगह वीणाको बैठे देखा, तब उसने यही प्रश्न किया।

"माताजीने नही, मैंने बुलाया था – बैठ जाइए।"

"पर विद्या तो कहती थी ...!"

"मैंने ही उसे कहा था कि मेरा नाम न लेना। अगर वह मेरा नाम लेती, तो मुझे पता था कि आप आते नही।"

केदार वीणासे ज़रा हटकर खटियाकी पाटीपर बैठ गया। उसने पूछना चाहा कि रातके दो बजे ऐसा कौन-सा काम आ पडा था। पर कुछ भी उसके मुँहसे न निकल पाया। वह जो कुछ अपने सामने देख रहा था, इस दृश्यने शायद उसकी ज़बान जकड दी थी। वीणा व्याहकी

लाल चुनरी ओढ़े थी। उसके गारे, कोमल हाथोंपर मेंहदीका गहरा रंग लालटेनकी मन्द रोशनीमें चमक रहा था। जब वह हाथको हिलाती, तब उसकी कलाईसे बँधे हुए कगनकी कौडियाँ हिलती और साथ ही कुहनो तकका लाल चूडा बज उठता। सिरपर फूल-चौक[1] बँधा होनेसे उसका कद पहलेकी अपेक्षा कुछ ऊँचा दिख रहा था। वीणाने लालटेन बुझा दी।

"आप नाराज तो नही हो गये हैं जो मैंने कुसमयमे आपकी नींद खराब की है?" वीणाने केदारके मुरझाये चेहरेपर दृष्टि गडाकर पूछा।

"बोलेंगे नही?" इस बार वीणाकी जबानमे, उसके गलेमे और उसकी आँखोमे एक ही चीज़ थी स्नेहका गहरा रग, उसके हाथपर लगी मेंहदीसे भी गहरा। कई दिनोसे स्त्री-सुलभ लज्जाने उसके सामने जो एक सकोचकी दीवार-सी खडी कर रखो थी, स्नहकी बाढके तेज बहावने वह सब गिराकर रख दी। केदारकी जबान जब फिर भी न खुली, तो वीणा सरककर उससे सटी और उसका हाथ अपन दोनो हाथोमे थामकर, निहोरा-भरी आवाज़मे बोली, "अब तो बोलिए – अब तो मै चली जाऊँगी।" और उसकी आँखामे आँसू भर आया। केदारने इस प्रकार आँखें खोली, जैसे किसीने ठण्ड पानीके छीटे मारकर उसे नीदसे जगा दिया हो। वह बोला – "क्या पूछती हो, वीणा?"

"आप किस बातपर नाराज है, मुझसे?"

एक बार फिर केदारपर मौन छा गया। वीणाके इस छोटे-स प्रश्नका जो उत्तर उसके पास था, वह यही, जो उसने कहा – 'तुम्हे कहा किसने वीणा कि मै तुमसे नाराज हूँ?"

"अपने पास ही रखिए य दम-दिलासेवाली बातें!" – वीणाके

---

१. फूल-चौक = एक प्रकारका जेवर, जो ब्याहके समय लड़कीके सिरपर पहनाया जाता है।

निहोरेमें इस बार पत्थरको गला देनेवाली शक्ति थी – "मैं नन्हीं बच्ची नहीं हूँ।"

वीणाके चेहरेपर आज किशोरियों-जैसी सरलताकी जगह गम्भीरता थी। उसके दर्द-भरे लहजेसे केदारके दिलका आवेग, जिसे उसने सन्तोष और धीरजके बाँध लगा-लगाकर रोक रखा था, बह चला। शायद वह जो कुछ जीते-जी अपने हृदयमें-से नहीं निकालना चाहता था, वह इस समय किसी अदृश्य शक्तिने उसकी जबानसे उगलवा दिया – "वीणा, मैं कहनेसे मजबूर हूँ। मेरी अच्छी वीणा, इस बारेमें मुझसे कुछ न पूछो, मैं मिन्नत करता हूँ।"

"न पूछूँ? – यह जानते हुए भी कि आपके दिलमें कुछ है, फिर किस तरह न पूछूँ?···पर····यह क्या!" वीणा उससे और सटकर यहाँ तक कि उसके मुँहके पास मुँह ले जाकर बोली – अरे! आपने····आपने शराब पी है, आपके मुँहसे····?" बीच ही में केदार बोला – "हाँ वीणा मैंने शराब पी है।"

"पर··· · क्यों?"

"इसलिए कि मैं तुम्हें भूल सकूँ और तुम मुझसे घृणा कर···"

"आप यह क्या कह रहे हैं?"

"कुछ नहीं वीणा, मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ, यदि मेरे मुँहसे कुछ ?" और बात-चीत समाप्त करनेसे पहले ही वह उठकर बाहरकी ओर चल पड़ा। पर वीणाने उसकी बाँह पकड़कर फिर उसे वहीं बैठा दिया – "क्या कहा आपने, मैं आपसे घृणा करूँ? – "और एक गहरा निश्वास सायबानके सन्नाटेमें मिल गया।

केदार बोला, "और मैंने सिगरेट पीना भी इसीलिए शुरू किया कि तुम मुझसे नफरत करो। अब वीणा, परमात्माके लिए मुझसे और कुछ मत पूछना, नहीं तो मेरा दिल फट पड़ेगा। वीणा, रोओ मत, मेरी अच्छी वीणा! आँसू बहाकर मेरा···!" केदारकी आवाज रुक गयी। वह वीणासे

हाथ छुड़ाकर दूसरे कोनेमे हट गया ! बोणा बेगसे उसके पास पहुँची और इस बार उसे अपने अकमे भरकर कुछ बोलनेके लिए उसने सिर उठाया, पर आवाज़ उसके होठोंसे टकरा कर लौट गयी ।

केदारने उसके सिरको बाँहोमे दबा लिया और भरपूर प्यार देते हुए कहा – ' वीणा, परमात्मा तुम्हारा सोहाग अटल रखें, तुम सुखी रहो, मेरे लिए इतना ही काफी है ।" वह वीणाको अपने शरीरसे अलग करनेकी कोशिश करने लगा, पर वोणाने उसकी कमरमे बाँहे डालकर हाथोकी गाँसी ऐसी कड़ी कर ली कि वह उसे छुडा न सका ।

'तेरी सिसकियाकी आवाज़ दूर तक सुनाई दे रही है वीणा !– बस कर । मै जबतक जियूँगा, तेरे लिए जियूँगा और भरसक जीनेका प्रयत्न करूँगा ।"

"आपकी हालत देख-देखकर मुझे डर लग रहा है !" – वीणाने पीडा-भरे स्वरमे कहा ।

' डर ?" – केदारके शब्दोमे दृढता थी – "किस बातका डर बोणा ?"

वीणा जो कुछ इसके उत्तरमे कहने जा रही थी, कह न सकी, पर उसका दिल पुकार रहा था – "आप मौतकी ओर भागे जा रहे है भैया !" केदारने उसके दिलकी आवाज़ सुनी कि नही, शायद सुन ही ली होगी । यदि न सुनता तो दोबारा क्यों कहता – "वीणा मै यत्न करूँगा कि जीता रह सकूँ ।"

"भैया !" – वीणा चिल्लायी ।

"छाड दो वीणा ! तुम्हारी आवाज दूर तक सुनाई दे रही है ।"

"नही ।"

"वीणा, छोड दो मुझे ।"

वीणाकी बाँहे शिथिल होकर लटक गयी । सायबानके खम्भेसे सिर लगाकर वीणा सिसक रही थी । सहसा उसने सिर उठाया, शायद मनमे

कोई दृढ निश्चय, अन्तिम निश्चय करके। वह बोल उठी – "मैं वह शब्द वापस लेती हूँ, जो उस दिन आपने कहलवाया था कि भैया कहकर पुकार! मुझे इस चूकेकी, इस कगनकी परवा नहीं है। मै···मै··· आपके साथ !" कहती-कहती वीणा अपने चारो ओर देखने लगी। और उसके अन्दरसे कोई बोल उठा – "वीणा! किससे कह रही है?" और इस अँधेरे सायबानमे वीणाने और अच्छी तरह आँखे गडा दी, पर केदार कही नही था, वह जा चुका था!

वीणाका शरीर इतना शिथिल हो गया कि सीढ़ियाँ उतरना उसके लिए भारी हो रहा था। दीवारका सहारा लेकर वह किसी तरह नीचे उतरी और जहाँसे उठी थी, वही जाकर लेट गयी। नीचे गलीमे हू-हू करके कुत्ते रो रहे थे। इस मनहूस आवाजसे बचनेके लिए वीणाने कानोम उँगलियाँ डाल ली, पर वह आवाज नही रुकी!

● ●

अँधेरा-उजाला

० ० ० ० ०

बात १५ अगस्त १९४८ की है। उस दिन मैं पटियालामें था। स्वतन्त्रता-दिवसकी धूमधामको जी भरकर देखनेका अवसर मिला। धूमधाममें कोई ऐसी विलक्षणता तो नहीं थी – वही सब जो गत कई वर्षोंसे होता चला आ रहा था। पर इसमें कुछ ऐसा भी देखनेको मिला, जो और किसीके लिए भले ही विलक्षण न रहा हो पर मेरे लिए तो वह मानव जीवन रूपी विशाल पुस्तकका एक पन्ना बन गया। और यह था एक 'ऑटोमैटिक शॉप' का दृश्य, जो किसी फर्मने अपनी पब्लिसिटीके विचारसे खोल रखी थी।

दूकानमें कोई भी विक्रेता नहीं था। सब चीजोंके साथ उनके मूल्यकी चिटें टाँकी हुई थीं, पासमें एक बन्द सन्दूकची रखी थी, और एक बोर्ड-पर मोटे अक्षरोंमें लिखा था: "निश्चित कीमत सन्दूकचीमें डालकर वांछित चीज़ उठा लीजिए।"

दूकानपर ग्राहकोंकी ठसाठस भीड़ थी। एक ओरसे ग्राहक प्रविष्ट होते और सौदा लेकर दूसरे रास्तेसे निकल जाते। दूकानमें माल अधिक नहीं था, यही पाँच-छह सौ रुपयोंका रहा होगा, जो देखते-ही-देखते बिक गया और दूकान खाली हो गयी। तत्पश्चात् जब प्रबन्धकोंने सन्दूकची खोलकर उसमें-की राशि गिनी तो निकले कुल पैंतालीस रुपये। जिसका मतलब था कि नब्बे प्रतिशत मालको ग्राहक लोग बिना दाम ही उठा ले गये थे।

पब्लिसिटीका यह अच्छा ढंग था, पर मुझे तो यह अपने देशवासियोंके आचरणका मापदण्ड ही जान पडा। अथवा इस पुण्यभूमिपर बसनेवाली ऋषियोकी सन्तानोके मुँहपर एक भरपूर चपत।

उसके बाद बहुत दिनो तक इसी प्रश्नको लेकर मैं सोचता रहा कि क्या 'मानव' नामधारी यह जन्तु यहाँतक पतित हो सकता है जो इतने सस्ते दामोपर अपना ईमान बेच दे? और उत्तरमे अन्तरका कोई समीक्षक कहता – 'नही, मानव – जिसकी सृष्टि प्रभुने अपने हाथो, अपने स्वरूप-द्वारा की है – कदापि ऐसा भ्रष्ट नही हो सकता, अवश्य ही इसमें कुछ उलट-फेर हुआ होगा।'

तो हमे मानना होगा कि कोई ऐसी प्रबल शक्ति अवश्य है, जो प्रभु-द्वारा सिरजे हुए मानवको मानवताके शिखरपर-से घसीटकर पतनके गड्ढेमें फेंक सकती है – अवश्य ही कहींपर कोई मोठी छुरी छिपी हुई है, जिसके द्वारा कटने-बिधनेपर भी मनुष्य उसको पीडाको स्वादिष्ट मानकर सहन किये चला जाता है। नही तो क्या यह अन्धेरकी बात नही कि जिसे प्रभुने सर्वसमर्थ बनाया, सर्वशक्तिमान बनाया – जो सब-कुछ पा सकता है, सब-कुछ कर सकता है, वह तुच्छ-से लोभमें पडकर उन दैवी शक्तियोकी ओरसे आँखें मूँदकर पतनके गर्तमें डूब जाये?

पटियालावाली उस घटनाके बाद मैं इसी प्रकारके परस्पर-विरोधी विचारोके सघर्षमे ग्रसा, बुद्धिरूपी मथनी-द्वारा अपनेको मथता चला गया और तबतक मथता ही रहा जबतक कि कोई नन्हा-सा तथ्य मेरे हाथ नही पडा। और उसी तथ्यके आधारपर मैंने इस उपन्यासकी रचना की है, जिसकी 'थीम' रूपी टार्चके द्वारा मैने मानवके दोनो पक्षो – कृष्ण और शुक्ल – पर हलकी-सी रोशनी डालनेका प्रयास किया है, जिसके अन्तर्गत परस्पर-विरोधी विचारो-भावनाओकी कुछेक आकृतियाँ पाठकके सम्मुख उभरती चली आयेंगी, मानो दो प्रकारके पुजारी समुदायोंके रूपमे, जिन्हें 'अर्थ-पुजारी' और 'कला-पुजारी' समुदायकी संज्ञा भी दी जाये तो अनुचित

न होगा। अथवा मानवीय चित्रके दो पहलू कहा जाये – एक उलटा, एक सीधा। अत: मेरा विश्वास है कि इन आकृतियों – पुजारियोंके चित्र के इन दोनों पक्षोंको देख लेनेपर पाठकोंको अवश्य ही इस प्रश्नका उत्तर पानेमें सहायता मिलेगी कि – ऐसा कैसे होता है? ऐसा किस कारणसे होता है?

० ० ० ० ० ०

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

भजनसिंहका मन जल-भुनकर राख हो तो हो गया जब एक लम्बी प्रतीक्षाके बाद उसे हरबंसका चार-पाँच पंक्तियोंका पत्र मिला, "मुझे बार-बार पत्र मत लिखा करो, इससे मेरी बेइज़्ज़ती होती है।" पत्र पढनेके बाद वह पत्नीपर बरसने लग गया, "बता, अब मैं किस कुएँमें जाकर छलाँग लगाऊँ? धोबीके कुत्तेकी तरह तूने मुझे न घरका छोडा न घाटका।"

हरनामकौर यदि पहलेकी-सी होती तो एककी दस सुनाये बिना नहीं मानती। पर परिस्थितियोंने उसे ऐसी जगहपर ला पटका था कि सब सुन लेनेपर भी वह गुमसुम बनी रही। आँधी डाले, आँखोंसे मोटे-मोटे आँसू टपकाये चली गयी, जिससे भजनसिंहका क्रोध और भी बढ गया, "अब ये टिसुए बहाकर किसे दिखलाती है, बेशर्म? सिर मुडाकर इतवार पूछनेकी याद आयी? बार-बार समझाता था न कि देख भली लोक, मत माथा जोड उन लुच्चोंसे, पर तूने कभी सुनी मेरी? एक-एक साँसमें बीस-बीस तारीफें करती थी, 'मेरी समधिन ऐसी – मेरा समधी ऐसा! अब तो देख लिया न सबको? पर तेरा इसमें क्या बिगडा – धोबीको छू? दुनिया-भरकी मुसीबतें तो मेरे सिरपर आ टूटी। हाथोंकी दी हुई गाँठें दाँतोंको खोलनी पड रही हैं।"

इतनेपर भी जब हरनामकौरने मुँह नहीं खोला तो भजनसिंहका

क्रोध हिंसक रूपमे बदलने लगा, "अरी भुतनी, मैं किससे माथा पटक रहा हूँ ? बोलेगी मुँहसे या उखाड़ूँ तेरी चोटी ?"

अब हरनामकौरकी काले-काले गढोमे धँसी हुई आँखें थोडा ऊपर उठे । बोलनेका उसने यत्न किया, पर बोल कुछ नही पायी । न बोलनेसे बात और भी बिगडेगी, सोचती हुई वह मात्र इतना ही उगल सकी, "हाय रब्बा (हे भगवान्) ! मुझे क्या मालूम था कि वे लोग···" और इतना ही कहकर रह गयी ।

"मै कहता हूँ," भजनसिहको आवाजमे वही हिंसा थी, "उन नीचो-की जानको ता पीछे रोना, पहले मुझे बता कि उस गुरदित्त हरामीका क्या बनाऊँ, जिसकी परसो तारीख है ? बाप-दादाने कभी मामले-मुकदमे-का नाम नही सुना था । अब तो दिखता है कि इस घरके सामने डुग्गी बजकर ही रहेगी — जेलमें सडना ही पडेगा । मकान ही अगर गिरवी न पडा होता, तो बेच-फूँककर गला छुडा लेता ।"

हरनामकौर अपना ही प्रलाप किये जा रही था, "हाय ! मै क्या जानती थो जो बहू लाते-लाते बेटेको भी खो बैठूंगी ! कितना भोला लडका था — आँखमे डालेसे नही खटकता था ! न जाने क्या बूटी सुँघा दी निपूतोने, कि उन्हीका बनकर रह गया ।"

भजनसिह उसी तिलमिलाहटमे बोला, "साँपको साँप काटे, जहर किसे चढे ? तूने तो सोचा था कि शादीके बहाने दौलत घरमें भर लूँगी । और उन्होंने सोचा कि शादीकी आडमे लडकेको ही गटक लेंगे । आखिर बडे साँपन छोटे साँपको मार डाला । यही तो होना था ।"

हाथ मलती, सिर धुनती हुई हरनामकौर वैसे ही प्रलाप किये जा रही थी, "लोगोंके बेटे होते है तो सात कुल सँवर जाते है और हम भाग-जलो-को दो मिले, दोनों ही आँतें झुलसानेको !"

भजनसिह और भी खरी-खोटी सुनानेको प्रस्तुत था, पर कदाचित् यही सोचकर उसने बात टाल दी कि पानी बिलोनेसे कुछ निकलेगा नही ।

बलपूर्वक अपनेको सन्तुलित करनेके यत्नमें बोला, "बहुत हो लिया ! अब खत्म कर इस किस्सेको ! हाँ, मैंने कहा, परसों कचहरी जाना है मुझे।"

हरनामकौर आपेमें आती हुई बोली, "सो क्या मैं नहीं जानती हूँ ? पर तुम तो एकदम ऐसा समझने लगे जैसे वहाँ जाते ही गुरदित्तसिह तुम्हें मुँहमें डालकर चबा जायेगा। खून थोडे ही कर डाला है उसके पूत-भतीजेका, जो अदालत हमें फाँसीपर टाँग देगी ! रुपये देने हैं, सो मुकरते नहीं हैं। हाकिमको साफ-साफ कह देना, और घरकी हालत भी बता देना। किस्तें बँध जायेंगी, यही न होगा ?"

भजनसिंह मन-ही-मन पत्नीकी सराहना करता हुआ बोला, "मान लो किस्तें बँध जायेंगी, पर पूछता हूँ कि किस्तोंका भुगतान कौन करेगा, जबकि घरमें भाँग भुन रही है ? और इसके सिवा दूसरे पावनेदार भी तो सिरपर सवार है, उनका क्या होगा ?"

हरनामकौरके पास इन प्रश्नोंके उत्तर नहीं थे। भजनसिंह भी जानता था कि इस रोगकी औषधि उसकी पत्नीने अण्टीमें नहीं बाँध रखी है, जो चट्-से खोलकर उसे थमा देगी। दोनों अपनी-अपनी जगहपर आँखें डाले बैठे रहे।

"एक बात कहूँ ?" सहसा हरनामकौर इस तरह बोल उठी जैसे सकट-जालमें-से निकल भागनेका उसे कोई ढग सूझ आया है।

"क्या ?" पतिने पूछा।

"मेरी सलाह है कि न हो तो किसी दिन मैं हो चली जाऊँ।"

"कहाँ ?"

"भाडमें। वही, और कहाँ ?"

"तेरा मतलब है, हरबसक पास ?"

"हूँ !"

जैसे भजनसिंहके माथेमें किसीने पत्थर मार दिया, "तो तेरे खयालमें

हमारी मिट्टी पलीद होनेमें अभी कुछ कसर बाक़ी है, जिसे जाकर पूरा करेगी ?"

"तुम तो भड़कने लग जाते हो। मैं कहती हूँ, एक बार मुझे हो तो आने दो।"

"अरी हट बेवक़ूफ़ कहींकी।" भजनसिंह मलामत करने लगा, "इतना तो सोच कि जो तीन पैसेका ख़त लिखनेका रवादार नहीं रहा, ससुरालवालोंके हाथो चढ़कर जिसने माँ-बापको एकदम तिलाञ्जलि दे दी है, वह तेरे समझानेसे समझेगा ?"

"अच्छा, अगर वह नही समझेगा तो मैं ही समझ लूँगी कि पहले छोटा मरा, अब बड़ा भी मर गया। रोज़-रोज़की किच-किच तो ख़त्म होगी। जिनके बेटे नही होते है वे लोग भी तो जीते है....." वह सिसकियाँ भरती हुई बोलती चली गयी, "कुलघाती! किस जन्मका बैर लेना था तुझे हमसे ? इसीलिए पेट फाड़कर जना था तुझे ?....बरसो तेरी गन्दगी उठायी। अरे, ऐसा तो सात जन्मके बैरी भी नहीं करते, हरबंस, जैसा तूने हमसे ..."

पत्नीकी करुण दशा भजनसिंहसे नहीं देखी जा सकी। अब उसे उसपर क्रोधके स्थानपर दया आने लगी।

बहुत देर तक दोनोमे इसी विषयको लेकर वाद-विवाद चलता रहा और अन्तमे जब भजनसिंहने देखा कि अपने हठीले स्वभावानुसार हरनामकौर किसी प्रकार भी टलनेकी नही, तो हारकर उसने कह ही दिया, 'अच्छा, अगर तुझे ज़रूर ही चोटी उखड़वानी है तो मार झक जाकर — मै नही रोकूँगा।"

और उसी दिन हरनामकौर वहाँ जा पहुँची।

हरनामकौरका वापस आगमन दूसरे दिन हुआ। पत्नीके उतरे हुए चेहरे और ख़ाली-ख़ाली आँखोंपर नज़रें पड़ते ही भजनसिंहको मामला

समझनेमें देर नहीं लगी। उसने पूछा, "कह !"

"कहना क्या है ?" रुआँसी होकर वह बोली, "मातमपुरसी करने गयी थी, करके लौट आयी।"

"किसकी मातमपुरसी ?" मतलब समझ लेनेपर भी भजनसिंहने पूछा।

"बेटेकी—और किसकी !" हरनामकौरने मानो अपने घावोंपर-की पट्टी अलग कर दी।

बेटेके बारेमें पत्नीके मुँहसे ऐसी हृदयभेदी बात सुनकर भजनसिंह तिलमिला उठा, "अरी डायन-मुँहजली, बात तो ढंगसे कर ! कीड़े चलें तेरी ज़बानमें ! बेटेके बारेमें ऐसी बात कहते हैं ?"

हरनामकौरपर तनिक भी असर नहीं हुआ। वह उसी उग्रतामें कहने लगी, "काटकर नींवमें भरना है मुझे ऐसे बेटेको ? कह तो दिया कि उसका दाह-संस्कार करने गयी थी—कर आयी।"

'ओ कलमुँही !" भजनसिंहका कलेजा चीरकर निकले ये शब्द "क्या लगी मुझ जलेको जलाने ! पहले क्या कम दुःखी हूँ, जो ऊपरसे और झुलसाने लगी ? तेरा नाश हो, पेटकी औलादको कोई यूँ कहता है ?"

हरनामकौरका आवेश नामको भी नहीं घटा, 'पेटकी औलाद जो मर जाये तो उसके साथ सती थोड़े ही हुआ जाता है।"

"मैं कहता हूँ बन्द कर इस बकवासको, और मतलबकी बात कर। कौन-सी कयामत आयी वहाँ तेरे लिए, जा माँ होकर पुत्रका कलेजा खाने लग गयी।"

"कलेजा ?" हरनामकौर ज्वालामुखी बनकर विस्फुटित हुई, "उसकी बोटी-बोटी भूनकर खा जाऊँ, जिसने मेरे साथ यह बरताव किया। भरे मजमेमें जिसने मेरी आबरूको पैरों तले रौंदा···।" और बोलते-बोलते हरनामकौर धाड़े मार-मारकर रोने लगी, इतने जोर-ज़ोरसे कि उसकी आवाज़ शायद पड़ोसियोंके कानों तक जा पहुँची होगी।

पत्नीके मानसिक कष्टको भजनसिंह समझ न रहा हो, इतना मूढ नहीं था वह। क्या वह नहीं जानता कि सन्तानके प्रति वात्सल्यका भाव बापसे कहीं बढकर माँमें रहता है? और वही वात्सल्यसे परिपूर्ण हृदय यदि इस समय पुत्रपर विष-वमन कर रहा है तो अकारण ही नहीं।

हरनामकौर सिसकियाँ भरे जा रही थी, पुत्रको दुर्वचन बोले जा रही थी और टूटे-फूटे स्वरमें कहे जा रही थी, "परमात्मा दुश्मनको भी न दिखाये जो मैंने देखा। अगर तुम्हारी बात मान लेती—न जाती उस जवानी टूटेके पास—तो क्यों आज मुझे मिट्टी होकर लौटना पड़ता!"

पत्नीके प्रति महानुभूतिसे छलक आया भजनसिंहका हृदय। वह ढलकर बोला, "भलीलोक, मुझे तो पहलेसे ही पता था कि वहाँ मक्खियाँ ही पड़ेंगी तेरे मुँह खोलनेसे। पर नहीं मानी तूने मेरी बात। अच्छा, जो हो गया सो हो गया—अब रो-रोकर आँखें गलानेसे क्या होगा? कोई बात नहीं, मुश्किलको घड़ियाँ बडो-बडोपर आती है।"

वैसे ही बिसूरती हुई वह बोली, "दु ख तो मुझे इस बालका है कि औलाद होकर उसने मेरी पान-पत उतार दी। सात कुलका दुश्मन भी न करता जो उसने किया।"

"अच्छा!" भजनसिंह उत्तेजित होकर बोला, "सुना तो हुआ क्या?"

और उत्तरमें हरनामकौरने सविस्तार सुनाना आरम्भ किया, जिसके सुनानेमें डेढ घण्टेसे कम समय नहीं लगा।

● ●

जीवन संग्राम

० ० ० ० ०

जीवनकी इस रण-भूमिमे दो शक्तियोका परस्पर संघर्ष। एक दैवी शक्ति, दूसरी दानवी। दोनो शक्तियोके अधीन पाँच पात्र इस रण-भूमिमें क्रमश. शामिल होते रहे है – पूरनचन्द, बख्शी धर्मचन्द, बलवन्त, उषा और चम्पा। इन पाँचोके सिवा कुछ और भी है – देवराज, लाजवन्ती, लक्ष्मी आदि, जो इस सग्राममें सीधे कूदनेकी बजाय पीछे बैठे हुए अपने कर्तव्यो-का पालन करते है।

लडाईका अन्तिम परिणाम क्या हुआ ? विजयका सेहरा किस शक्तिके सिर बँधा और पराजय किसकी हुई ? यह सोचना पाठकोका काम है। मै तो वही कह सका, जो कुछ मैने इस लडाईमे देखा, या अनुभव किया है। उपन्यासके उपर्युक्त पाँचो चरित्र अपनी-अपनी जगह अलग-अलग गुण, कर्म और स्वभावके प्रतीक है, जिनके द्वारा जीवनकी गुत्थियोके कुछ हल जरूर पाठकोको दृष्टिगोचर होगे।

सबसे पहला जो सिद्धान्त पाठकोके सामने आयेगा, वह है प्यार और उसका प्रतिकर्म। प्यारकी अप्राप्ति मनुष्यके जीवन-प्रवाहको किस ओर ले जाती है और इसकी प्राप्ति किस ओर ? इसके सिवा यह भी कि मनोवैज्ञानिक तौरपर प्यारको हमारे जीवनपर भिन्न भिन्न समय, भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रभाव क्यो होते है, जब कि 'प्यार' एक ही चीज है ? प्यारकी 'अप्राप्ति' और 'प्राप्ति'के दो अलग-अलग प्रभाव रूपमान होकर किसी गुत्थीदार सवालके हलकी भाँति आपके सामने आ जायेगें, जब

आर अकेले बलवन्तको दो जुदा-जुदा रूपोमें देखेंगे। हो सकता है, उसके कायाकल्पको देखकर कई पाठक शकामे पड जाये, कि क्या ऐसा हो सकता है ? पर जिनका जीवन कभी इस प्रकारके दो-राहेसे गुज़रा होगा, वे केवल इसकी सत्यताको ही स्वीकृत नही करेंगे, बल्कि उनके अन्दरसे बोलकर कोई चीज़ इस सिद्धान्तकी हामी भी भरेगी।

बलवन्तके बाद केरेक्टर है चम्पाका। मुझे भय है कि उपन्यास पढनेके बाद कई पाठक इस 'चम्पा'का नाम भी ज़बानपर लाना शायद अपराध समझे, परन्तु मैं कहता हूँ यह उनका चम्पाके प्रति ही नही, सच्चाईके साथ भी अन्याय होगा। इसके उत्तरमें पाठक मुझे कोसेंगे कि — 'क्या चम्पा इसलिए अच्छी है कि उसने अपने पिताकी और माताकी आत्माओको कुचला ? या इसलिए कि उसने बेचारी ऊषाका सर्वनाश किया—क्या उस बहादुरीके बदले, जो उसने पूरनचन्दका सयम और ईमान लूटनेमे दिखायी ?'

यह सब सच सही, पर इसके होते हुए भी मेरे अन्दरसे एक आवाज़ आनेसे नही रुकती कि चम्पा बेगुनाह — निरपराध — ही नही, बल्कि कई दिशाओमे वह हमारी सहानुभूतिकी पात्र भी है — दुराचारिणी होते हुए हुई भी। इसे प्रमाणित करनेके लिए मैं इससे अधिक कुछ नही कहना चाहता कि यदि पाठकोने बहुत गहरे ध्यान और मनोवैज्ञानिक आँखोसे चम्पाका चरित्र पढनेकी कोशिश की, तो अवश्य ही वे मुझसे सहमत होगे। आप किसी पापीको बिना सोचे-समझे पापी कहकर दुत्कार दें, तो क्या आप न्यायका साथ देंगे ? क्या इसके साथ ही यह भी सोचना आपका कर्तव्य नहीं होगा कि पापीको पापी किसने बनाया ? क्या चम्पा अकारण ही पापिन बन गयी ? क्या उसके पापोको उकसानेका कारण, समाजकी उसके पैरोमे डाली हुई फौलादी बेडियाँ नही थी ? चम्पाके पापकी तहमे एक ही चीज़ थी, जिसने पच्चीस-छब्बीस वर्षकी उमर तक तो उसकी सहज प्रवृत्तियोको बरबस रोके रखा तथा उसकी स्वाभाविक भावनाओको

जकड़े रखा, पर ज्योंही किसी आघातसे उसके जीवन-दुर्गकी जर्जर दीवार-की धक्का लगा – कि उसकी सहज प्रवृत्तियाँ भयानक लावेके रूपमें फूट निकली, जिनने उसे पापिन या दुराचारिणी बना डाला। परन्तु क्या इसमें चम्पाका अपराध था ?

उषाका चरित्र अनोखा भी है और स्वाभाविक भी। उसकी स्थिर बुद्धि और पूर्वकी रुचियोंने उसमें मानव-पीडा, दया तथा त्यागके भावोंसे परिपूर्ण आत्मा बिठा दी है, जिसका प्रभाव बराबर उसके जीवनके साथ-साथ अन्त तक चलता गया। देखकर भी अनदेखा करना उसका स्वभाव बन चुका है। यही कारण है कि संकटमें भी उसके धीरजका बाँध नहीं टूटता। उसे पतिका प्यार जरूर मिला, पर ज्यों ही खोटे सिक्केकी भाँति उस प्यारका रंग उघड़ना शुरू हुआ, उषाकी उत्कट प्यारकी लालसा, उसके सीनेमें ही घुट गयी। और जब अचानक ही उसके प्यारका एक नया पात्र – बलवन्त – उसके सामने आता है, तब उषा-ने 'पति-प्रेम'की भूखको मिटानेके लिए 'भ्रातृ-प्रेम'को अपनाना शुरू कर दिया। ज्यों-ज्यों 'पति-प्रेम'का सोता सूखता गया, 'भ्रातृ-प्रेम'की नदी उमड़ती आयी। और जब वह पतिकी ओरसे – जो अपराधके गहरे पानीमें डूब चुका था – सन्देह और अनादरके आवेशमें फटकारी जाने लगी तब 'भ्रातृ-प्रेम'की वेगवती नदीमें एकदम बाढ़ आ गयी जिसने उसे अन्तमें अपने अन्दर समो लिया।

धनके चकाचौंधने पूरनचन्दको न केवल आँखें चौंधिया दी, बल्कि उनमें मोतियाबिन्द भी पैदा कर दिया। जिससे वह खरे-खोटेकी पहचान खो बैठा। स्वाभाविक कठोरताने पहले तो उसके अन्दर कभी लचक ही नहीं आने दी, यदि कभी आयी भी तो घडी-पलके लिए। फलस्वरूप जीवनके संग्राममें वह बुरी तरह परास्त हुआ।

मक्कारोंकी सजीव तसवीर है बख्शी धर्मचन्द, जो उमर-भर धोखा-धड़ी और फरेबके घोड़ेपर सवार रहा, जिसने 'फोड़ो और राज करो'की

नोवपर ही अपनी आशाओके महल खड़े किये थे। परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था।

० ० ० ० ०

सोलहवाँ परिच्छेद

पापका लावा जब किसीकी जीवन-भूमिसे फूट निकलता है, तब इसकी उष्णतासे मानव-मनकी प्रत्येक लचकदार वस्तु जड हो जाती है। पूरनचन्दकी यह सारी रात करवटें बदलते बीती। चम्पाका वह रातवाला स्पर्श, उसके शरीरको पार करके उसकी आत्मामे प्रवेश कर गया था। इस समय उसके दिल और दिमागकी सारी मशीनरी इसी प्रश्नको सुलझानेमे जुटी हुई थी। किस प्रकार चम्पाके मनमे प्रविष्ट होकर उसके स्त्रीत्वको अपने अधिकारमें किया जाये।

फिर विचार आता – "मान लो चम्पा मेरे पजेसे निकल नही सकती, फिर भी उषाकी उपस्थितिमे यह काम कैसे पूरा हो सकेगा? यदि उषाको जरा भी भनक पड गयी, तो उसके सन्देहकी तलवार हर समय हम दोनोपर लटकती रहेगी। और इस दशामे जब कि धरमचन्दके कहे अनुसार उषाके हाथमे मेरे भविष्यका बहुत-सा दारोमदार है, कैसा अनर्थ हो जायेगा, यदि उषाको मेरे इन इरादोका पता लग गया।"

इस विचारने पूरनचन्दकी बेचैनी दूनी कर दी। वह अपने नये और बहुत ही खतरनाक रास्तेकी कठिनाइयोको घण्टो सोचते-सोचते थक गया। आखिरमे उसे जो ढग सूझा, सो यही कि अभी पहाडकी सैरमे एक महीना तो बिताया जाये, फिर जो होगा देखा जायेगा। किसी पहाडपर जानेकी इच्छा उसकी पहले भी थी, पर अब जब कि बाईस-तेईस सौ रुपयोके नोट उसकी जेबमे मौजूद थे, उसकी अभिलाषा और भी बढ गयी। खास तौरपर जबसे धर्मचन्दने अमृतसर लौटकर उसे बताया कि उसने लाला देवराजको वसीअत बदलनेके लिए भी किसी सीमा तक राजी कर लिया था।

इसी प्रकारके उतार-चढ़ावमे उसकी रात बीत गयी। भोर होते-होते उसकी आँख लगती ही जा रही थी कि किसीके गानेकी आवाजने उसे चेतन कर दिया।

आवाज पासके कमरेमे-से आ रही थी। स्त्री-कण्ठके स्वरको तो उसने झट पहचान लिया, पर दूसरा स्वर अपरिचित था। तुरत ही उसे धर्मचन्दकी बाते याद आ गयी। वह जल्दीसे उठकर बाहर निकला और उषाके कमरेके सामने जाकर रुका। वायलिन और सितारके तारोपर षड्ज और पचमके स्वर गूँज रहे थे – "सखी री मैने जीवनको धन पायो।"

क्रोध और ईर्ष्याकी दुहरी आगसे पूरनचन्दका कलेजा जलने लगा। पर उसने पूरी शक्ति लगाकर अपनेको सँभाला और कमरेमे प्रवेश किया। उषाके हाथमे सितार था और मास्टर बलवन्त वायलिन बजा रहा था। पूरनचन्दको देखते ही बलवन्तने वायलिन रख दिया और आगे बढकर उसके पैर छू लिये।

'इन्हे जानते है ?" – उषाने सितार रखकर मीठी मुसकराहटके साथ पतिकी ओर देखते हुए कहा और उठकर उसके पास आ गयी।

पूरनचन्दके मुँहसे कोई बात नही निकली। थोडा-सा मुसकराकर वह दोनोके पास जा बैठा। उसकी आँखे बलवन्तके चेहरेपर गडी थी। यदि वह धर्मचन्दसे सुन न चुका होता, तो उसके लिए पहचानना कठिन हो जाता कि यह वही 'बन्ता चोर' है।

"मै आपको इनके विषयमे खुशखबरी सुनानेवाली थी" – उषाने बडी चाव-भरी अदाके साथ कहना शुरू किया – "पर आपकी तबीयत ठीक नही थी, मैने सोचा, सवेरे कहूँगी – ये मेरे 'मास्टर साहब' है।"

पूरनचन्द चेहरेपर कृत्रिम प्रशसाकी झलक लाते हुए बोला – "अच्छा, बडी खुशीकी बात है – कहाँसे तशरीफ लाये है आप ?"

बलवन्तने विनम्र स्वरमे उत्तर दिया – "उषाजी मेरे साथ ज्यादती

कर रही हूँ, जो एक सेवकको 'मास्टर'का पद दे रही हूँ।"

"अच्छा पहचानिए – कौन है?" उषाने तीखी दृष्टिसे एक बार पतिकी तरफ और फिर अपने मास्टरकी तरफ देखकर पूरनचन्दसे पूछा।

"मैने तो पहले शायद कभी इनके दर्शन नही किये है।" – पूरनचन्दने अनजान बनकर कहा।

"एक बार छोडकर कई बार आप उन्हे देख चुके है, अच्छी तरह पहचानिए।" उषाकी आवाजमे सफलताकी मिठास थी।

पूरनचन्दने जब कोई उत्तर नही दिया, तब उषा बोली – "जिसे आपने स्पिरिटको चोरीके बदले पीटा था।"

"कौन बन्ता चोर?" – पूरनचन्दके मनका बँधा हुआ क्रोध जैसे खुलता जा रहा था।

"उहूँ!" – उषाने कुछ ताडना-भरे, पर मीठे भावसे कहा – "ऐसा न कहिएगा फिर। अब ये मेरे मास्टर है।"

इसके बाद उषाने मास्टर बलवन्तका सारा हाल विस्तारसे कह सुनाया। पूरनचन्द बिना हुँकारा-भरे, पत्थरकी मूर्ति बना सुनता रहा। जब उषा अपनी बात समाप्त कर चुकी, पूरनचन्द उठता हुआ बोला – "बड़ी खुशीकी बात है। और मैंने कहा मैंने कहा" कहते-कहते वह भूल गया कि क्या कहने जा रहा था।

इधर बलवन्तने कई बार जबान खोलनी चाही, वह शायद पूरनचन्दसे उषाके उपकारोका वर्णन करना चाहता था; पर उपकारीकी उपस्थितिमे, वह चाहता हुआ भी कुछ न कह सका। केवल उसकी आँखें कह रही थी कि वह पैरके अँगूठेसे लेकर सिरकी चोटी तक उषाके उपकारोसे दबा हुआ है।

"ज़रा बैठ जाइए।" – उषाने पूरनचन्दका हाथ पकडकर कहा – मेरे मास्टर साहबका गाना तो सुनिए।"

पूरनचन्दको बैठना पडा, पर बडी कठिनाईसे। उसे भय था कि

इस मास्टरके विरुद्ध जो घृणाका अन्धड उसके मनमे उठ रहा था, वह कही बेकाबू होकर प्रकट न हो जाये ।

"जरा ठहरिए, मास्टर साहब !" – उषाने दरवाजेकी ओर जाते हुए कहा – "दौडकर चम्पाको भी बुला लाऊँ, बेचारी कलसे सुस्त-सी है । मास्टर साहब ! आज उससे भी कुछ सुनेंगे ।" और वह बाहर निकल गयी ।

बलवन्त मितारके तार टुनका रहा था और पूरनचन्दकी कटु दृष्टि बराबर उसके चेहरेपर गडी थी । चम्पाका नाम कानोमे पडते ही उसके अन्दर एक दूसरे प्रकारका आँधी उठ खडी हुई और कुछ समयके लिए उसके अन्तरमे से घृणा और ईर्ष्याको उडा ले गयी ।

उधर उषा, चम्पाके कमरेमे पहुँची जो रसोईघरसे सटा हुआ था । कमरेका दरवाजा खुला पडा था, पर चम्पा अन्दर नही थी । उसकी चारपाई, बाहर दरवाजेके पास खडी थी और बिस्तर लपेटकर उसके पायोपर रखा था । उषाने सोचा कि रसोईघरमे होगी । पर, वह वहाँ भी नही मिली । ढूँढती-ढूँढती उषा गैलेरीमे जा पहुँची जहाँ चम्पा नीचे मुँह किये कुछ लिख रही थी ।

"चम्पा !" – उसके सिरपर पहुँचकर उषाने कहा – "क्या लिख रही है ?"

चम्पाने कुछ ही पंक्तियाँ लिखी थी कि उषाको देखते ही वह इस तरह डर गयी, जैसे उसकी कोई चोरी पकडी गयी हो । उसने तुरन्त कागजको गुडी-मुडी करके मुट्ठीमे छिपा लिया ।

उषाने चकित होकर पूछा – "क्या है चम्पा ?"

"कुछ नही ।"

"चिट्ठी लिख रही है ?"

"हाँ – नही ।"

"हाँ भी, और नही भी ?"

चम्पाने कोई उत्तर नहीं दिया, उसके चेहरेसे घबराहट प्रकट हो रही थी।

उषाने ज़रा रूखी-सी आवाज़मे कहा – "तो छिपाती क्यो है? अगर मेरे पढनेको नही है, तो मैं नही देखती।" और फिर कुछ रुककर बोली – "आ इधर चल।"

चम्पा बिना कुछ कहे-सुने उसके साथ चल पडी।

कमरेमे पहुँचकर ज्यो ही पूरनचन्दपर चम्पाकी दृष्टि पडी कि उसे आघात-सा पहुँचा। जैसे किसीको बिजलीका करण्ट छू जाता है। उसके पैर देहरीमे ही रुक गये, पर पीछे नही लौटी। जाकर बलवन्तके पास बैठ गयी – उषाके साथ।

पूरनचन्दके अन्तरमे चिनगारियाँ उठने लगी – घृणाकी नही, न ईर्ष्याकी ही, बल्कि उस चीज़की, जो मनुष्यकी आँखो-द्वारा उतरकर समस्त ज्ञान और कर्मेन्द्रियोमे भूचाल पैदा कर देती है, जिस भूचालके धक्कोसे मनुष्य ज्वालामुखीका एक भयानक मुहाना बन जाता है।

"चम्पा!" उषाने कहा – "पहले तू कुछ सुनायेगी या मास्टर साहब सुनायें?"

"मास्टर साहब।" चम्पाने कहा। उसके गलेसे आवाज़ इस प्रकार भर्राकर निकली कि यदि उषाके अन्तिम शब्दकी नकल न होती, तो कोई भी इसे न समझ पाता।

पूरनचन्दने एक बार चम्पाको ओर देखा, और आँखे नीची कर ली।

"आप ही पहले सुनाइए मास्टर साहब!" – उषाने बलवन्तसे कहा।

बलवन्तने बिना हीला-हवाला किये गाना शुरू कर दिया। उसके अलापोसे, उसकी तानोसे और उसकी मुरकियोसे कोई माधुर्य निकलकर इस कमरेमे अमृत बरसा रहा था।

तीस-पैतीस मिनिट तक गाना होता रहा। उषाकी आँखें बन्द थी, चम्पाकी अधखुली और पूरनचन्दकी जैसे बेहोशीसे फैली हुई।

जब बलवन्तने सितार रखा, तब पूरनचन्दका ध्यान उषाकी ओर था, जो संगीतके स्वादकी मस्तीमे इस प्रकार बावली हो रही थी, जैसे गानेवालेकी आत्मामे, उसकी आत्मा पूर्णरूपसे एकाकार हो गयी हो।

गानेकी समाप्तिपर, उषाने प्रशसाके भावसे पूरनचन्दकी ओर ताका, पर पूरनचन्द किसी गहरे विचारमे डूबा हुआ था। अपनेपर उषाकी दृष्टि पडते ही, वह तुरन्त बोल उठा – "वाह ! वाह ! मास्टर साहब, कमाल कर दिया आपने।"

उषाको गानेमे स्वाद आया था, पर पति-द्वारा की हुई इस प्रशसासे उसे जैसे नशा आ गया। वह बोली – "परमात्मा किसी समयकी बात निकट आकर सुनता है। मै आपसे कई बार कहती न थी कि कोई सगीत-का जानकार मिले, तो मै उससे कुछ सीखना चाहती हूँ। सो, घरमे ही सगीतका देवता आ पहुँचा। मेरा तो ऐसा मन करता है कि इनकी सारी विद्या इनसे चुग लूँ।"

बलवन्तने सिर झुकाकर धन्यवाद दिया। चम्पा हँसी भी नही, गुम-सुम बैठी रही। पूरनचन्दने कहा – "यह बडी खुशीकी बात है।"

"अच्छा चम्पा !" उषाने उसका कन्धा हिलाकर कहा – "ले, अब तेरी बारी है।"

"फिर किसी दिन सुनाऊँगी।" कहकर चम्पा तुरन्त बाहर निकल गयी।

"अरी हिरणी, बात तो सुन !" उषाने आवाज दी, पर वह छू हो गयी।

"बडी शैतान लडकी है यह।" उषाने पूरनचन्दसे कहा – "आपको देखकर तो काठ मार जाता है इसे, आगे-पीछे अच्छी-भली रहती है। न जाने आपसे क्यो डरती है इतनी।"

पूरनचन्दको उषाकी बातें शायद सुनाई नही दे रही थी। उसकी सुनने-समझनेकी शक्तिको मानो चम्पा अपने साथ ही खींचकर ले गयी थी।

"आप भी तो बड़े बेमुरव्वत हैं।" उषाने कहना चालू रखा – "बेचारीको कभी बुलाते नही, चलाते नही। मास्टर साहबसे तो थोड़े ही दिनोमे इस प्रकार हिल-मिल गयी है, जैसे कई वर्षोंका परिचय हो।"

यह वाक्य पूरनचन्दको स्पष्ट सुनाई दिया। उसकी दशा इस समय उस मनुष्यकी-सी थी, जिसका आधा शरीर आगमे और आधा बरफ़मे हो। आगकी ज्वाला उसे जलाये डाल रही थी, और बरफ़की असह्य शीतलता उसे सुन्न कर रही थी – दोनो चीजें दुःखदायी थी। उषा-द्वारा, बात-बातपर मास्टर बलवन्तकी प्रशसा, उसके कलेजेको लपटें बनकर जला रही थी। और चम्पाका खयाल उसकी धमनियोमे रक्त जमाये जा रहा था। उसके लिए बैठना कठिन हो उठा।

वह उठकर कमरेसे बाहर निकला और उसके पीछे-पीछे उषा भी।

"बताइए, कैसे है मेरे मास्टर ?" – दूसरे कमरेमें जाकर उषाने पतिकी ओर देखकर पूछा – "पसन्द आया कि नही आपको उनका गाना ? अभी दूसरे साजोपर तो आपने सुना ही नही। सारगी और तबला सुनें, तो दग रह जाये। हारमोनियमपर तो उँगलियाँ बिजलीकी तरह चलती हैं।" और वह पूरनचन्दकी जबानसे निकलनेवाले वाक्योकी उतावलीसे प्रतीक्षा करने लगी, पर जब उसने मात्र इतना ही सुना – "हाँ, अच्छे है।" तो उसका उत्साह किरकिरा हो गया।

पूरनचन्द उसके मनोभावको भाँप गया। वह उषाके सामने अपने मनका कोई भी रुख प्रकट नही होने देना चाहता था। तुरन्त बोल उठा – "इतना तो मैने भी सुना था कि बन्ता चोर किसी समय अच्छा गवैया था, पर इसने राग-विद्यामे यहाँतक कमाल हासिल कर लिया होगा, इसका मुझे जरा भी पता नही था।"

उषाका गिरता हुआ मन, फिर उभार पर आ गया।

"अच्छा उषा!" पूरनचन्दने उतावली-सी आवाजमे कहा – "छुट्टियाँ तो सिर्फ एक महीनेकी बाकी रह गयी हैं, अगर तुम्हारी सलाह हो, तो

यह महीना किसी पहाड़पर चलकर काटा जाये। विचार तो मेरा सारी छुट्टियाँ बितानेका था, पर धर्मचन्दने ऐसा रोका कि पूरा महीना बिता डाला।"

"तो चले चलिए न।" कहती-कहती उषा रुक गयी और जरा ठहरकर बोली – मेरा विचार है, अगर आप माने तो मास्टरको भी साथ ले चलें। एक तो बेचारा अभी कमजोर है – डॉक्टरने भी यही राय दी थी कि इसका स्वास्थ्य तभी ठीक हो सकेगा, जब कुछ दिन पहाड़पर जाकर रहे और दूसरे, वह मुझे बड़े परिश्रमसे सिखा रहा है। अगर बीच ही में छोड़ दिया तो पिछला सीखा हुआ भी भूल जाऊँगी।

मूसा भागा मौतसे आगे मौत खड़ी' – पूरनचन्दने मन-ही-मन कहा। यह बात पूरनचन्दको उसी प्रकार असह्य लगी, जैसे साँपको देखकर कोई उससे बचना चाहे, पर दूसरा आदमी साँपको पकड़कर उसके गलेमें डाल दे।

पतिको असमंजसमें पाकर उषा बोली – "अगर आपकी सलाह नहीं है, तो न सही।"

पूरनचन्दको उसकी नाराजगी और निराशा प्रत्यक्ष दीख पड़ी। उषाकी नाराजगी वह किसी भी कीमतपर लेनेको तैयार नहीं था। दिलेरीके साथ बोला – "नहीं, नहीं, मेरा यह मतलब तो नहीं। मैं तो ··· मैं तो' 'बल्कि चाहता हूँ कि वह जरूर हमारे साथ चले। उसका साथ हमारे आनन्दको दूना कर देगा।" कहते-कहते एक और चिन्ताने पूरनचन्द-को आ घेरा, और यह थी चम्पाके विषयमें, जिसके लिए उसे पहाड़पर जानेकी उतावली थी। वह सोचने लगा – कहीं ऐसा न हो कि उषा उसे साथ न ले जाना चाहे। चम्पाको ले चलनेकी सिफारिश करनेमें उसकी जबान हिचकिचाती थी। उसने धर्मचन्दका सिखाया हुआ 'पुरुष चरित्र' खेलनेके विचारसे कहना आरम्भ किया – "तो फिर चम्पाको, मेरे खयालसे अमृतसर भेज दिया जाये।"

"क्यों ?" – उषाने हठीले भावसे कहा – "बेचारी कभी घरसे बाहर नही निकली। और कोई सुख तो उसके भाग्यमे है नहीं, इसी बहाने चार दिन सुखसे काट आयेगी।"

"मेरा तो विचार था कि उसे रहने ही दिया जाता, आगे जैसी तुम्हारी इच्छा।" पूरनचन्दने अनमना-सा मुँह बनाकर कहा।

"आप तो उसपर जरा भी तरस नही खाते।" – उषाने कुछ कडे स्वरमे कहा – "सिरपर माँ नही है, बाप नही है। निराश-सा जीवन है। एक तो भगवान्ने बेचारीके साथ अन्याय किया, दूसरे आप उसके साथ हर बातमे लापरवाही करते है। माना कि वह नौकरानी है, फिर भी उसके साथ सहानुभूति तो रखनी चाहिए। आप उसका खयाल न रखेगे, तो और कौन रखेगा ? बाबूजीने उसे हाथोकी छायामे पाला है। उनके बाद, कौन बेचारीका वैधव्य पार लगायेगा।"

पूरनचन्दने उषाका हाथ दबाकर कहा – "मुझसे गलती हो गयी। तुम्हारा हुक्म और मै टाल दूँ, यह किस तरह हो सकता है।"

"ऐसी बाते न कहा करो।" उषाने प्यार-भावसे कहा – "मुझे अपने पैरोसे ऊँचा न बनाया करो, नही तो मेरी-तुम्हारी लडाई हो पडेगी।"

पूरनचन्दका मन गद्‌गद हो उठा। कुछ समयके लिए मास्टर बलवन्त-के प्रति ईर्ष्या उसके हृदयमे-से लोप हो गयी। वह बोला – "अच्छा, तो तैयारीका प्रबन्ध हो जाना चाहिए और जल्दी ही।"

• •

मँझधार

० ० ० ० ०

मेरे चारो ओरकी यद्यपि आगकी ज्वालाएँ बुझ गयी हैं और खूनकी नदियाँ रुक गयी है, पर इसका यह अर्थ नही कि चौगिरदा साफ हो गया। बल्कि मेरे चारो ओर विषैले पौधे इतनी अधिक संख्यामे पैदा हो गये हैं और उन्होने वातावरणको ऐसा बना दिया है कि उसमे साँस घुटता है। चोर-बाज़ारी, रिश्वतख़ोरी, कानूनगर्दी, धक्केशाही, अन्धी लूट-खसोट, और फिर बडे-बडे देशभक्तो और कौमके कर्णधारोकी यह दशा है कि सिद्धान्तो और कर्मको ताकपर रखकर वे दिन-रात 'हम भी लूटें, तुम भी लूटो' के कथन-पर चल रहे है। इसके साथ ही लाखो उजडे हुए लोग रोटी कपडे और घरकी खोजमें मारे-मारे फिर रहे हैं। उनका कोई वली-वारिस नही है और इस बिगडी हुई व्यवस्थाको सुधारनेके लिए शासन अपनी ओरसे पूरी शक्ति लगानेपर भी विवश है। साम्प्रदायिकता, लूट-खसोट, ओहदोकी भूख और सरकारी कर्मचारियोकी रिश्वत-खोर नीतिने उसके हाथ-पाँव जकड दिये है। ऐसे अनगिनत विषैले पेड हैं जिन्होने स्वतन्त्रताको नव-अंकुरित खेतीके विकासको रोक रखा है। मेरे चारो ओर दूर-दूर तक यह बीहडके रूपमे उगे हुए है। इसी वातावरणमे मैं यह पृष्ठ लिखकर पाठको तक पहुँचा रहा हूँ।

इस उपन्यासकी नायिका बीस-इक्कीस वर्षकी एक कुमारी युवती है – 'पुन्याँ', जिसका कोमल हृदय, समाजने छलनी किया हुआ है। पुन्याँ, जिस भी पीडितको देखती है, उमीपर अपना आपा

न्योछावर करनेको तैयार हो जाती है। उसे लोगोंके दुःखोंने दुःखी ही नहीं बल्कि एक प्रकारसे पागल-सी बना दिया है। सारा देश ज्वालाओंमें जल रहा – सारी मनुष्यता नरक-जैसी भट्टीका ईंधन बनी हुई है। पुन्याँ समझ नही पाती कि वह अपना छोटा-सा व्यक्तित्व कैसे इस इतने बडे पीडित ससारमे बाँट दे। वह जिसे भी दुःखी देखती है, उसे ही अपने हृदयमे छिपा लेनेके लिए व्याकुल हो उठती है। यदि किसी मातृहीन बालकको उसने माँको खोजते हुए देखा तो उसने माँ बनकर उसके जख्मपर प्यारका फाहा रखा। पुन्याँका यह बलिदान यही समाप्त नही होता। उसके लिए एक अवसर ऐसा भी आ जाता है जब किसी अभागे प्रेमीके लिए वह पत्नी या प्रेमिका बननेसे भी सकोच नही करती। अर्थात् पीड़ित ससारपर अपना आपा न्योछावर करती हुई वह किसी अवसरपर अपना नारीत्व न्योछावर करनेसे भी नही झिझकती।

माना कि पुन्याँ-जैसी लोक-पीडा-से पागल लड़की शायद ही कभी हमारे देखनेमे आयी हो, पर मैं उसे मानवताके रंगमंचपर किसी सम्भव या असम्भवके दृष्टिकोणसे नही लाया, न ही उसे मैंने स्त्री-प्रतिनिधिके रूपमे प्रस्तुत किया है। बल्कि 'नारी', जिसका दूसरा नाम मेरे विचारमे 'जननी' है, की आत्माको साकार करना ही मेरा उद्देश्य था। मेरी कल्पनामे प्रत्येक स्त्री सबसे पहले 'जननी' है और उसके पश्चात् और सब कुछ। मानता हूँ कि पुन्याँ-जैसे व्यक्ति साधारणत. नही मिलते। लाखों-करोडो सीपियोमे से किसी एकको कोखमे ही ऐसा रत्न उत्पन्न होता होगा। फिर भी मेरा विश्वास है कि इस संसारमे पुन्याँका अस्तित्व असम्भव नही है। पुन्याँके चरित्रकी विचित्रता इससे बढकर और क्या हो सकती है कि एक ओर यदि वह किसी परायेको कष्ट-निवृत्तिके लिए अपने नारीत्व तक-का बलिदान कर देती है तो दूसरी ओर उस व्यक्तिको, जिसे वह अपने हृदयके सिहासनपर बैठा चुकी थी, ठुकरा देती है, यह कहते हुए – "डॉक्टरजी, आप मेरे कामके नहीं है।"

गला-सड़ा हुआ एक अन्धा अपाहिज, जिसके निकट भी कोई नहीं जाता, जब पुन्याँ उसे माँकी यादमें बिलखता देखती है तो 'माँ' बनकर उसे सीने-से लगा लेती है — किसीपर कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए नहीं, बल्कि अपने हृदयकी पीड़ाको शान्त करनेके लिए।

पुन्याँसे दूसरे दरजेपर डॉक्टर 'आनन्द' है, जिसे हम न 'दैवी' और न ही 'दानवी' कह सकते हैं। उसके जीवनकी धुरी मानवतापर आधारित है, पर सुदृढ़ नहीं है, उखड़ी और ढीली स्थितिमें है। वह एक पक्का सुधारवादी और आदर्शवादी है। देशभक्तिकी सानपर चढ़कर उसने अपने जीवनकी तलवार खूब तेज़ कर ली है। पर ज्यों ही संघर्षका अवसर आता है कि पहले वारमें ही उसकी तलवार टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़ती है। क्यों ? इसलिए कि डॉक्टर आनन्द आरम्भसे ही एक भूलका शिकार रहा। उसकी 'लोकसेवा' लोगोंकी प्रशंसाके सहारे ही खड़ी थी। जिसका उसे तब ज्ञान हुआ जब पुन्याँकी आलोचनाने उसके जीवनकी छानबीन करनी शुरू की।

डॉक्टर आनन्द-जैसे व्यक्ति हमारे चौगिरदेमें भरे हुए ही नहीं, बल्कि किरणोंकी तरह कुरबल कुरबल कर रहे हैं। हर उस व्यक्तिके अन्दर हमें डॉक्टर आनन्दकी आत्मा दिखाई देती है जो बाँहें उठा-उठाकर देशभक्तिकी बड़ी-बड़ी बातें करता है। हर प्रकारकी सामाजिक संस्थाओं-में हमें डॉक्टर आनन्द दिखाई देते हैं जो "गुरुआ डूबे धारमें, चेले दियें बहाइ" कहावत सच्ची साबित कर रहे हैं। पर यदि अभाव है तो पुन्याँ-जैसी किसी दैवी आत्माका।

'मनसूर' का सम्बन्ध यद्यपि इस सारे उपन्यासमें केवल एक ही अध्यायसे है, पर मैं समझता हूँ, यही एक अध्याय है जहाँ पहुँचकर पाठक डॉक्टर आनन्दके स्थानपर मनसूरको उपन्यासका नायक माननेको बाध्य हो जायेगा। जिस प्रकार पुन्याँ-जैसी लड़की आज लाखों लड़कियोंमें मिलनी कठिन है, उसी प्रकार मनसूर-जैसा युवक भी आजके संसारमें

मिलना कठिन है। फिर भी मैं समझता हूँ कि न 'उस'का अस्तित्व असम्भव है, न 'इस' का। यह दूसरी बात है कि संसारके इस विशाल कारखानेमें कई बार ऐसी चीज़ें भी बन जाती है, जिन्हें बननेसे लेकर टूटने तक मनुष्यकी आँख देख ही नहीं सकती।

० ० ० ० ०

सोलहवाँ परिच्छेद

अन्धे व्यक्तिका संसार संक्षिप्त-सा होता है, जिसे वह अनुभव और कल्पनाकी आँखोंसे ही देख सकता है। पर 'परमा' का समार तो और भी सक्षिप्त था जिसकी सीमा केवल एक ही अक्षरमें सकुचित थी, 'माँ'। माँसे आगे कोई और भी समार होता है, इससे वह अनजान था। इसके अतिरिक्त एक चीज और भी थी जिसके अस्तित्वका ज्ञान कभी-कभी उसे भयानक और घृणित रूप दिखाकर उसके अन्तरको झकझोर जाता। और यह था 'माता' का खयाल।

'माँ' और 'माता' के शब्दार्थमें यद्यपि कोई अन्तर नही, पर परमाकी कल्पनामें यह दोनों एक दूसरेसे इतने पृथक् थे जितना जीवनसे मृत्यु। इन दोनोंमें पहलेको वह हृदयसे प्यार करता था और दूसरेको हृदयसे घृणा। अपनी माँ-द्वारा वह बचपनसे सुनता आया था कि वह एक वर्षकी आयुका था जब 'माता' नामकी कोई मुसीबत पता नही उनके घरमे कहाँसे आ गयी और उसके पिताको ले गयी। उससे दो वर्ष पश्चात् एक बार फिर वही 'माता' आयी, जिसने परमाको खटियापर गिरा दिया, उसका सारा शरीर गन्दे फफोलोंसे भर दिया, उसे कई दिन तक मछलीकी भाँति तडपाया और जाते-जाते अन्तमें उसकी आँखें भी ले गयी।

कई बार उसके मनमें एक टीस-सी उठती। वह सोचा करता—'माता' का पाँव उसके घरमें न पडता तो उसका भी आज पिता होता, अन्य लोगोंकी भाँति उसकी भी आँखें होती और वह भी देख सकता,

घूम-फिर सकता, भाग-दौड़ सकता और खेल सकता। उसे कदम-क़दमपर लाठी या माँका कन्धा पकड़नेकी आवश्यकता न पड़ती। वह पढ़ सकता, वह लिख सकता, सिनेमा देख सकता, जिसकी हर कोई प्रशंसा करता। 'माता' का उसने क्या बिगाड़ा था ? कौन-सी ऐसी गलती की थी जिसके बदले वह उसके पिताको, और फिर उसकी आँखे ले गयी। कभी-कभी वह सोचता – "क्या वह मेरी आँखें मुझे वापस नही दे सकती ?" यही प्रश्न वह प्रायः अपनी माँसे भी पूछा करता। पर उत्तरमें उसकी माँ सदैव यही कहकर उसे निराश कर देती थी, "नही, माता एक बार जो कुछ ले जाये उसे कभी वापस नही करती।" परमा क्रोधमे दाँत पीसता हुआ कहता कि एक बार यदि 'माता' उसके हाथमे पड़ जाये तो उसका गला घोटकर, उसकी जान निकालकर शान्त हो। पर वह 'माता' कभी भी तो उसके काबूमें नही आयी। बदला लेनेकी लालसा उसके दिलमे ज्योंकी त्यों बनी रही।

अन्धे बेटेसे माँको किस बातकी आशा हो सकती थी ? किसी बातकी भी तो नही। पर उसका मोह जैसे सब ओरसे सकुचित होकर इसी अपग बच्चेपर आ टिका। ससारके लिए जो वस्तु अनावश्यक थी – जीवित मासकी गठरी मात्र, वही वस्तु उस अभागिनके लिए ससारकी दौलत और उसकी आँखोका प्रकाश थी।

परमाका भी कुछ इस प्रकारका स्वभाव बन गया था कि अपनी माँके बिना उसकी साँसका चलना कठिन हो जाता, पानीका घूँट और रोटीका ग्रास उसके गले न उतरता। किसी भी समय वह माँसे अलग होना नही चाहता था। उसकी माँ यदि पड़ोसियोके घर काम कर रही होती तो भी परमा उसके घुटनेसे लगकर बैठ जाता और जो बरतन वह घिसकर साफ करती उन्हे अँगोछेसे पोछ-पोछकर चमकाता जाता।

परन्तु होनहारको कौन रोक सका है। सन् सैतालीसके फसादोकी जहरीली हवा सबसे पहले इसी इलाकेमे चली और पहले हमलेमे ही बन्नू-

की हिन्दू आबादीपर बिजली टूटी, वहाँ साथ ही बेचारे परमाका संसार भी खतम कर गयी। उसकी माँको अगवा करके कहाँसे कहाँ पहुँचा दिया गया। बेचारा अनाथ बालक अब इतने बड़े ससारमे अकेला और निराश्रय था। यद्यपि पड़ोसियोने उसे जीवित रखनेके लिए थोड़ी-बहुत सहायता की, पर आमोकी भूख गुठलियोसे कैसे दूर हो सकती है। माँके चले जानेके पश्चात् परमाका जहाँ दिल टूट गया वहाँ साथ ही उसका दिमाग भी हिल गया। उसमे दिन-प्रति-दिन पागलोंके चिह्न प्रकट होने लगे।

बन्नूके वासी अपने वतनसे सम्बन्ध तोड़कर पूर्वी पजाबकी ओर भागने लग गये। सबको अपनी-अपनी पड़ गयी। माँओको पुत्र सँभालनेका होश नही था। बेचारे परमाकी खबर कौन लेता। आखिर इतना हो हुआ कि किसीने तरस खाकर उसे भी घसीटकर रेलगाड़ीके एक कोनेमे धकेल दिया।

जब अभागे यात्रियोंकी यह गाडी गुजरात स्टेशनपर पहुँची तो पाकिस्तानी दानवोने उसपर धावा बोल दिया। उसी लूट-मारमे इस अन्धेपर भी भालेका वार हुआ जिसकी नोक इसकी टाँगसे पार निकल गयी।

पूर्वी पजाबमे पहुँचनेपर असख्य लोगोके समुद्रमे तिनकेकी भाँति यह लड़का अपनी घायल टाँगको घसीटता हुआ मोटरोके अड्डे और रेलवे स्टेशनपर दिन-दिन-भर भटकता रहता। और राह चलनेवालोसे पूछा करता, "माँ किस गाड़ीसे आयेगी ? किस लॉरीमे उतरेगी वह ?" और यदि किसी स्त्रीकी आवाज उसके कानोमे पड़ती, तो वह झट 'माँ, माँ' पुकारता हुआ उसे पकड़नेको आगे बढ़ता। पर कौन परायी स्त्री उस घिनौने बालकको निकट आने देती ?

कितने दिन, कितने सप्ताह उसने उसी दशामे बिता दिये ? इसे जाननेकी किसे चिन्ता थी, जब कि दुखियो, भूखो और बेरोजगारोके टिड्डी दलसे उन दिनो पजाबकी धरतीका चप्पा-चप्पा भरा पड़ा था।

उसकी टाँग गलती गयी और साथ ही उसका दिमाग भी बिगड़ता

गया। वह जहाँ बैठता, बैठा ही रहता। जहाँ लेटता, लेटा ही रहता, जिस ओर चलता, चलता ही जाता। पर इसका अर्थ यह नही कि वह बिल्कुल ही व्यर्थ चीज बन गया था। बल्कि सैकडो लोगोको हँसानेका मसाला बन गया था। वह अब रोता नही था, न ही उसके चेहरेपर चिन्ताका कोई चिह्न दिखाई देता। सदैव एक-सी मुद्रामें बना रहता जैसे मासके पुतलेको गतिमान करनेके लिए उसमे कोई पुरजा लगा दिया गया हो।

छहहरटा और खालसा कॉलेजके बीच ग्रैण्ड ट्रक रोडपर वह प्राय देखा जाता। ताँगेवाले उससे परिचित हो गये थे। क्योकि वह गन्दा और घिनौना होता हुआ भी उन्हें हँसाया करता था। वे जब उसे आवाज देते, "परमे! स्टेशन चलेगा?" तो परमा अपनी टाँगको घसीटता हुआ ताँगेपर चढ जाता। फिर जबतक ताँगा स्टेशनपर न पहुँच जाता, परमा-के सवाल "कौन-सी गाडी आ रही है! कौन-से प्लेट-फार्मपर?" जारी रहते। और उत्तरमे कोचवान उसे जो दिलमे आता कहता जाता और हँसता जाता।

उसे यह भी प्राय: कहा जाता था कि उसकी माँ लाइजन महकमेकी ओरमे बनाये हुए कैम्पमे आयी हुई है। और वह उसीके आस-पास घूमा करता। लडके हर समय उसे घेरे रहते, "परमे, तेरी माँ आयी।" परमे, यह ले तेरी माँने तार भेजा है। वह आ रही है....वह कैम्पमे तुझे ढूँढती थी...."परमा उत्सुकता, और अधीरतासे पूछता, "कब?....कितने बजेकी गाडीपर?...अब कितने बजे है...." और लडके इस दुखान्त या सुखान्तको और मनोरजक बनानेके लिए उसे कह देते, "रातको बारह बजे-को गाडी....दिनके दो बजेकी गाडी....शामके सात बजेकी गाडी।" परमा इन शुभ-समाचारोंपर विश्वास कर बैठना और उसके पश्चात् हर आने-जानेवालेसे पूछना शुरू कर देता, "बाबूजी....ऐ जानेवाले ' क्या वक्त होगा?" दिन-दिन-भर वह समय पूछता रहता और फिर वैसे ही लाठीके सहारे अपनी गली-सडी टाँग घसीटता हुआ इधरसे उधर भागा फिरता।

दिन चढ़ता, रात होती; फिर दिन चढ़ता और फिर रात होती। ज्यों-ज्यों दिन-रातका यह चक्कर चलता गया परमाकी खोज तेज होती गयी, उसकी टाँग खराब होती गयी और उसका दिमाग बेकार होता गया। किसीको पहचाननेकी शक्ति उसमें-से लुप्त होती गयी। यहाँतक कि माँके अतिरिक्त और किसी भी चीज़के बारेमें सोचने-समझनेकी सामर्थ्य उसमें लगभग समाप्त हो गयी।

छहहरटा कैम्पमें जहाँ अगवा की गयी स्त्रियोंको पाकिस्तानसे लाकर रखा जाता था, परमा अधिक चक्कर लगाया करता था। उस दिन कई चक्कर लगा चुकनेके बाद वह थक टूटकर एक टूटे हुए मकानमें लेटा हुआ टाँगकी पीड़ामें कराह रहा था। उसके पास लेटनेका समय नहीं था। उसे तो अभी रेलवे स्टेशनपर अपनी माँके स्वागतके लिए जाना था। पर आज वह चलनेमें असमर्थ था। टाँग उसके शरीरका भार उठानेसे जवाब दे चुकी थी। आस-पासके लड़के उसके गिर्द जमा हो गये और बातोंका स्वाद लेने लगे। — "परमे, तेरी माँने चिट्ठी भेजी है, यह ले।" और उस लड़केने एक रद्दी पोस्टकार्ड उसके हाथमें पकड़ा दिया। परमा, जो टाँगका पीड़ासे तड़प रहा था, एकाएक पीड़ाको भूलकर उससे पूछने लगा, "अच्छा, क्या लिखा है? पढ़कर सुना तो जरा, तेरा भला हो!"

तब लड़केने पढ़ना शुरू किया, "बरखुरदार परमानन्दजी, तुमको विदित हो कि मैं मंगलवार रातके बारह बजेकी गाड़ीसे आ रही हूँ।" सुनकर परमासे चैनसे बैठा। न गया उसने उठनेका यत्न किया, पर टाँगकी पीड़ाने उसे उठने नहीं दिया। एक और लड़केने पुकारा, "परमे, अब तेरे जानेसे क्या फायदा? आज तो बुधवार है। वह कल ही आ चुकी होगी।"

"आ चुकी होगी?" परमाने जैसे चोट खाकर पूछा "तो अब क्या बनेगा? वह बेचारी पता नहीं कहाँ-कहाँ मारी-मारी फिरती होगी! अब मैं क्या करूँ? मुझसे तो चला भी नहीं जाता।"

उसी समय एक युवती, जो देखनेसे शरणार्थी प्रतीत होती थी, भीड़के पीछे आकर खड़ी हो गयी। इतनेमें दूसरे लड़केने पुकारा, "परमे! तेरी माँ आ गयी।"

"कहाँ? कहाँ?" परमा अधीर होकर चिल्लाने लगा।

युवती, ने जो पीछे खड़ी थी, लड़कोंके इस मूर्खता भरे मज़ाकसे चिढ़कर पीछे हटनेकी बजाय आगे बढ़ आयी और दोनों बाँहें बढ़ाकर उसने परमाके हाथ पकड़ लिये।

भीड़ देखते-देखते दुगुनी-चौगुनी और फिर अठगुनी हो गयी। तमाशा देखनेवालोंका मनोरंजन बढ़ता जा रहा था, जब कि एकके स्थान-पर अब दो पागल उनके सामने थे। युवतीने इसकी परवाह नहीं की कि लोग उसकी गतिविधिको किस दृष्टिसे देख रहे हैं। वह परमाको माँ-की तरह ही प्यार करती रही और अन्तमें उसे उठाकर अपने घरपर ले गयी।

• •

एक म्यान दो तलवारें

o o o o o

मेरे पाठकोको यह बात आश्चर्यजनक हो लगेगी कि एडीसे लेकर चोटी तक अहिंसावादी होते हुए भी मै आज उन्हे एक ऐसा उपन्यास दे रहा हूँ जिसके अन्तर्गत एक हिंसात्मक आन्दोलनका निरूपण किया गया है। यद्यपि मेरे मनको कभी भी किसी प्रकारका हिंसात्मक सिद्धान्त नही जँचा, फिर भी यदि मेरी लेखनी ऐसा करनेको विवश हुई तो इसका कारण यह है कि मुझे अपने देशवासियोपर बहुत समयसे एक रोष है, जिन्होने केवल 'वाद'के चक्करमे पडकर अपने उन अमर शहीदोकी स्मृति-को उपेक्षाकी टोकरीमे फेक दिया जिन्होने स्वतन्त्रताके हवन-कुण्डमे सर्व-प्रथम और सबसे अधिक आहुति दी। और उसी शिकायतको उन्हो तक पहुँचानेके लिए मैने उस साधनका प्रयोग किया है।

मेरा अभिप्राय सन् १९१४-१५ के उस क्रान्तिकारी आन्दोलनसे है जिसे 'गदर लहर' कहा जाता है। उस समय, जब भारतीयोने 'स्वतन्त्रता' का मात्र नाम ही सुना था, जब लगभग सारा देश अँगरेजी गुलामीके नशेमे मीठी नीद सो रहा था, देशसे हजारों मीलोकी दूरीपर बैठे वे हजारो भारतीय अपने हृदयोमे स्वतन्त्रताकी तडप लेकर भागे हुए आये थे, और अपनी लाखो रुपयोकी आय तथा करोडोकी जायदादको कुँएँमे फेंक आये, जिन्हे देशभक्तिने इस सीमा तक उन्मत्त बना दिया था कि अँगरजो-जैसे शक्तिशाली साम्राज्यका सामना करनेका क्या परिणाम होगा इसकी भी उन्होने परवाह नही की। आधी शताब्दीसे भी कम समय हुआ जब

भारत माताके आठ-नौ हजार सपूतोंने विदेशोंसे यहाँ आकर अँगरेजोंके विरुद्ध विद्रोहका झण्डा लहराया। माना कि उनका आन्दोलन असफल रहा, पर क्या इस 'अपराध' के कारण उनका बलिदान भी सन्देहजनक हो गया? स्वतन्त्रताके लिए बहाया गया उनका मना खून भी इतना सस्ता समझ लिया गया?

कहते हैं कि म सूरन अपन देशकी परम्पराके विरुद्ध 'अन-अल-हक' का नारा लगाया था जिसक फलस्वरूप वहाँकी सरकारन उसे सूलीपर चढा दिया। और उसक देशवासियान सार समारक सम्मुख म-सूरकी शहादतका ढिंढोरा पीट दिया। पर उसकी तुलनाम हमार देशकी कृतज्ञता का अवलोकन कीजिए जिमक एक नहीं, दो नहीं सैंकडों मन्सूर देशभक्तिके अपराधम सूलीपर चढ गय हजाराका अण्डमान तथा अन्य जलोम एडियाँ रगडत हुए मरना पडा। और उनके देशवासियाकी आँखाम से आँसू तक न गिरा। अपन देशके शहीदाके लिए इस सीमा तक उनका खून सफेद हो गया कि बड-बड धममन्दिरासे उनके लिए कुफ्रक फतव जारी किय गय।

बहुत समयसे मरी हार्दिक इच्छा थी कि एक बार मैं उनका कहानी-द्वारा अपन देशवासियोको एक कड आ-सा ताना तो दे दू – कि काई बात नही यदि उनकी स्मृतिका कोई चिह्न स्थापित नही किया गया न ही काई समाराह उनको यादम कभी मनाया गया। उनके बलिदान दिवसा पर कोई श्रद्धाजलि भी न भट कर। पर कभी कभा उनका स्मरण करके एकाध आह तो भर ही ली जाती। क्या इतना भी किसीसे न बन पडा? यही थी मर मनकी हसरत जिसन मुझे यह उपन्यास लिखनपर बाध्य किया।

उनम से कितन फाँसीके तख्तपर झूले? कितनाका खून बहा और कितनान जलोम अपना यौवन मिट्टाम मिलाया? किसे चिन्ता थी इन आँकडाको एकत्रित करनकी?

सदर आन्दोलनमें भाग लेनेवालोंपर नौ विशेष अदालतोंमे मुक़दमे चलाये गये। इन नौ मुकदमों-द्वारा जितने दण्ड दिये गये, उनमें मृत्युदण्ड-वालोंकी संख्या सौके लगभग थी और कालेपानी या कम क़ैदकी सज़ा नौ सौके लगभग। लगभग पचास क्रान्तिकारी पुलिसका सामना करते हुए मारे गये। इसके अतिरिक्त बहुत-से नगरोंकी साधारण अदालतोंमे मुक़दमे चलाकर जिन्हे सज़ाएँ दी गयी उनकी सख्याका पता नही लग पाया। न ही उन सैनिकोको सजाओके आँकडे प्राप्त हो सके है जिन्हें कोर्ट-मार्शल-द्वारा दण्डित किया गया।

यदि इस लोकोक्तिमे कुछ सत्यका अश है कि 'शहीदोका खून व्यर्थ नहीं जाता,' तो अवश्य ही वह दिन आयेगा जब किसी कविके ये वाक्य सार्थक सिद्ध होगे :

> "शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले,
> वतन पर मिटने वालो का यही बाक़ी निशाँ होगा।"

० ० ० ० ०

उनतालीसवॉ परिच्छेद

चाहे कोई कितने ही दृढ हृदयवाला हो, पर आखिर है तो वह हाड-मासका ही पुतला। क्रान्तिकारी सही, मृत्युको मज़ाक समझनेवाले सही, पर उनके हृदय भी तो मोहसे इतने शून्य नही हो सकते कि उनमे अपने प्रियोसे मिलनेकी इस समय इच्छा नही उठे, जब कि वे इस संसारसे सदाके लिए बिदा ले रहे हो। मानना पड़ेगा कि इन सातो कैदियोकी भी अपने-अपने सम्बन्धियोके अन्तिम दर्शन करनेकी अभिलाषा थी, परन्तु इनमे एक कैदी ऐसा भी था जिसके चेहरेपर ऐसे किसी भी मनो-विकारका कोई लक्षण ढूँढे नही मिलता था। वह किसी भी मुलाकातीकी प्रतीक्षामे बेकरार नही था। जब वकीलोने उससे पूछा, "बताइए 'सराभा'-जी आप किस मुलाक़ातीको बुलाना चाहते हैं?" तब उसने बेपरवाहीकी

अपनी स्वाभाविक मुसकानसे उत्तर दिया था, "मुझे किसी मुलाक़ातीको नहीं बुलाना है।"

सराभा आज सुबहसे ही पूरी मस्तीमें, सलाखोंके पीछे खड़ा दिन-भर आज़ादीके गीत गाता रहा था। पर इन तरानोंमें आज किसी अन्यने उसका साथ नहीं दिया। एक तो कोठरियाँ ही एक-दूसरेसे इतनी दूर थीं कि वहाँतक आवाज पहुँच ही नहीं सकती थी, दूसरे उसके साथी अपने-अपने मुलाकातियोंमें व्यस्त रहे थे। किसी-किसी समय कोई नीली-पीली वर्दीवाला वार्डर उसकी कोठरीके समीपसे गुज़रता हुआ जब उसे पूछता, 'क्यों सराभाजी, आपके मुलाकाती कब आयेंगे?" तब वह उत्तर देता, "भई, बात यह है कि दूसरे लोगोंके मुलाकाती तो ऐसे ही क्षण-भरके लिए आकर और दो-चार टिसुए बहाकर चले जाते हैं, पर मेरा मुलाकाती जिस समय आयेगा, तुम्हारी मौजूदगीमें भी मुझे यहाँसे निकालकर अपने साथ ले जायेगा।"

'कौन होगा ऐसा उसका मुलाकाती, और वह कब आयेगा?' उससे यह प्रश्न पूछनेकी शायद किसीको भी आवश्यकता नहीं थी। हर कोई जानता था कि वह मुलाकाती मृत्यु'के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता, जो इस युवकसे मुलाकात करने कल अवश्य ही आनेवाला है।

सन्ध्या होने तक सभी कोठरियोंके आगेवाली जगह खाली दिखाई देने लगी। सारे दिनकी चीख़-पुकारके पश्चात् इस समय चारों ओर चुप्पी छायी हुई थी। केवल वृक्षोंपर सूख चुकी पत्तियाँ हवाके झोंकेसे 'खड़-खड़' करती सुनाई दे रही थीं। दिन-भरकी मीठी-मीठी धूपके पश्चात् सर्दी उतरती आ रही थी। सन्ध्याका स्लेटी रंग कालेपनमें बदल रहा था। दसूतीका कुरता और घुटनों तकका जाँघिया पहने सराभा इस सर्दीसे निश्चिन्त, सलाखोंके पीछे खड़ा ऊँचे स्वरमें गाये जा रहा था। उसके पास कम्बल चाहे दो थे, पर इनकी मानो उसे आवश्यकता नहीं थी। वह सुबहसे गीतपर गीत गाता चला जा रहा था – मानो उसके अन्तरतम-

मे गोतोंका एक बहुत बडा भण्डार था, जिसे शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर देना उसके लिए अनिवार्य था। बाहरवाली बस्तियाँ कब जल उठी ? — गीतोंकी मस्तीमे उसे कुछ पता नही चला।

इसी बीचमे उसका ध्यान गानेसे हटकर दूसरी ओर जा पड़ा। उसके सामने — कोठरीके बाहर, लाल रगको शाल ओढे 'बीरी' खडी थी, जिसे देखते ही वह चौक-सा उठा। "अरे नानी··· तुम ?" उसने चोखती-सी आवाजमे पुकारा।

"जी हाँ, मैं।" बीरी मुसकरायी। "क्या करती, नवासा जो टिककर बैठने नही देता था," कहते हुए बीरीने अपने ठिठुरे हुए दोनो हाथ सलाखोके अन्दर सरकाकर सराभाकी मुट्ठियोपर — जो सलाखोसे लिपटी थी — टिका दिये।

कुछ तो बीरीके शब्दाने और कुछ उसके स्पर्शने, दोनाने मिलकर सराभाके समस्त शरीरमे एक मीठा-सा स्पन्दन छेड दिया। उसने चाहा कि वह सलाखोको छोडकर बीरीके ठिठुरे हाथोको अपने हाथोमे लपेट ले।

एकदम अनसोचे और अकल्पित इस दृश्यको देखकर वह भौचक्का-सा रह गया। अभीतक भी उसे विश्वास नही हो रहा था कि यह जो कुछ वह देख रहा है स्वप्नके अतिरिक्त कुछ और है। उसकी आँखें बीरीपर कुछ ऐसी गड-सी गयी थी, मानो इनकी पुतलियोको किसीने जमा दिया हो।

"तुम तुम रघुबीर तुम ··" यत्न करनेपर भी जब उससे पूरा वाक्य नही निकल पाया तो बीरीने उसकी मुट्ठियोको थपथपाते हुए कहा, "आप घबरा क्या गये मै सचमुच ही रघुबीर कौर हूँ और आपसे मिलने आयी हूँ। आपने ही तो बुला भेजा था।"

सराभाको स्मरण हो आया कि इससे पहले भो बीरी ऐसा ही कुछ कह चुकी है, जिसका मतलब था कि उसीने उसे बुला भेजा है। बीरीके चेहरेकी ओर देखता हुआ, आश्चर्यमे डूबा वह बोला, "मैंने तो किसी

भी मुलाक़ातीको तार नहीं दिलवाया था।"

बाहरकी लैम्प पोस्टके प्रकाशमें सराभाने और भी अच्छी तरह दृष्टि गड़ाकर देखा। सलाखोंसे सटी हुई बीरी कह रही थी, "झूठ बोल रहे हैं ? क्या आपने सन्देश नहीं भेजा था ?"

'नहीं'में उत्तर देनेसे शायद बीरी अपना अनादर समझे, वह बोला, "यदि यदि उस छपे हुए कागजको तुम 'सन्देश' समझती हो तो " तो शायद तुम्हारा अन्दाजा ठीक हो है। मैंने किसी साथी-द्वारा कहला भेजा था कि 'पैगाम' जब प्रकाशित हो, उसकी एक प्रति अमुक पतेपर भी भेजी जाये।

"पर तुम्हें मुलाकातकी आज्ञा कैसे मिल गयी रघुबीर ?"

"मझे पता था," वह बोली, ' कि किसी गैरको आज्ञा नहीं मिल सकती।"

"यही तो मैं पूछता हूँ कि फिर तुम्हें कैसे मिल गयी ?"

"मुझे ? मैं जेलरकी कोठी चली गयी। मुलाकातोंका समय समाप्त हो चुका होगा, यह मुझ पता था।"

"फिर जेलरने तुम्हें कैसे आज्ञा दे दी ?"

"मैंने उसे बताया कि सराभाजी मेरे पति हैं।"

' है !"

"जी हाँ।"

"यह तो तुमने अजीब पाखण्ड किया, रघुबीर !"

"पाखण्ड किया या जो कुछ भी किया, आप इस बातको छोड़िए। मतलबकी बातें कीजिए।"

दो मिनिटकी खामोशीके बाद जब सराभाने होठ खोले तो उनपर मधुर-सी मुसकान थी, "तुम्हारा भैया ठीक ही कहता था कि यह लड़की शैतानकी नानी है। अच्छा यह तो बताओ कि इतनी कमजोर क्यों हो गयी हो ? सच-सच बतलाना।"

"एकदम सच बताऊँ ?"

"हाँ ।"

तब उत्तरमे बोराने अपनी 'दुर्बलता'का कारण बतला दिया ।

'वाह-वाह !" सराभा प्रभावित होकर बोला, "नानी नही, बल्कि तुम्हे तो पड़नाना ही कहना चाहिए ।"

बीरी हलका-सा मुसकराकर बोली, "क्या करती ! सारे जीवनमें आपने एक ही बात ता कही थी, वह भी न मानती ?"

"मैंने कौन-सा बात कही थी तुम्हे ?"

'भूल गय ? गिरफ्तार होते समय क्या आपन मुझ सन्देश नहीं भेजा था कि नानीस कह देना कि 'एक म्यानम दो तलवार नही समा सकती ?"

"हूँऽ ।' सराभा इस हुकारक साथ ही चुप हो गया ।

"आपने क्या नही कहला भेजा था ?" बीरीने फिर पूछा ।

"कहला तो भेजा था, पर मेरा मतलब "

"आपका मतलब क्या था ?" बीरोने उसकी ओर घूरते हुए पूछा, "पिताजीको विष पिला देती या स्वय घर छाडकर भाग निकलती ?"

"नही ।" सराभान बोराको कुछ गुस्सेमे पाकर नम्रतासे कहा, "मेरा यह मतलब नही था, रघुबीर ।"

"तो और ?"

"गुलाबकोर तुम्हारे पास गयी थी ?"

"जी हाँ ।"

"उसन तुम्हे कुछ नही कहा था ?"

"उसने तो बहुत-कुछ कहा था और मैंने मान भी लिया था । पर क्या मै आपको बता नही चुका कि उसके बाद मेरी क्या दशा हुई ?"

"खैर," सराभाने प्रशसायुक्त शब्दोका प्रयोग शुरू किया, 'तुमने जितना कुछ भी किया रघुबीर, यह किसी वीरागनासे कम नही । पर "

"आप भी अजीब है," बीरीने बात टोकते हुए कहा, "कभी शैतानको

नानी-पड़नानी तो कभी वीरांगना !"

"रघुबीर, मजाक नहीं कर रहा। तुमने सचमुच वीरांगनाका काम किया। पर मुझे एक बातका अफसोस है कि तुम उस खिलौनेको कभी भी प्रयोगमें न ला सकी।"

खिलौनेके जिक्रने बीरीको एक और बात याद दिला दी। वह बोली, "क्या इसीलिए आपने वह खिलौना वापस मँगवाया था ?"

"वापस तो दूसरे ही मतलबसे मँगवाया था, क्योंकि वह चीज दूरीसे प्रयोगमें लायी जानेवाली थी, पर उससे भी जो बढ़िया खिलौना मैंने तुम्हें भेजा उसे तुमने स्वीकार ही नहीं किया।"

'स्वीकार कैसे करती !' और बीरीने एक ऐसी बात मुँहसे निकाल दी जिसे सुनकर सराभा आश्चर्यमें डूब गया – "क्या कोई पत्नी अपने पतिकी पहली भेंट किसी चीजके साथ बदल सकती है ?"

"क्या क्या कह रही हो तुम ?" सराभाने यह प्रश्न ऐसे किया, मानो बीरीने किसी दूसरी भाषामें बात की हो – जिसे वह समझ न पाया हो।

"कुछ नहीं।" बीरीने बातको टालनेके इरादेसे कहा, "मैं कहती हूँ मतलबकी बातें करो। कितना सारा समय गुजर गया !"

"मेरा मन भी तो यही कहता है रघुबीर, कि इस समय तुम्हें कोई भी व्यर्थकी बात मुँहसे नहीं निकालनी चाहिए। और यह जो कुछ तुम कह चुकी हो, यह तो व्यर्थसे भी बढ़कर "

बेवकूफी है !' बीरीने कहा, "यही न कहना चाहते हैं ?"

'निस्सन्देह," सराभाके चेहरेपर हसरत-भरा रंग था 'तुम स्वयं ही सोचो, किसी ऐसे यात्रीसे जिसे कभी लौटकर न आना हो, ऐसी बातें करना क्या बेवकूफी नहीं ?"

बीरीने नखरेकी अदासे सिरको हिलाकर कहा, "बड़े दार्शनिक बन बैठे ! क्या मैं नहीं जानती इस फिलसफेको ? पर यदि उस यात्रीसे उसी

मजिलका कोई यात्री नेह लगाना चाहे तो क्या आपके खयालमे यह भी बेवकूफी होगी ?"

सुनकर सराभा निरुत्तर-सा हो गया। उसे इस समय बडी अनोखी एव उत्तेजनात्मक स्थितिकी अनुभूति हो रही थी, जैसे रेलगाडीके उस यात्रीको, जिसका डिब्बा काटकर पीछे मुड जानेवाली किसी गाडीसे लगाया जा रहा हो।

"रघुबीर!" उसकी आवाज़मे न जाने कहाँसे इतनी कडाई आ गयी, "तुम मुझे कमज़ोर बनानेके लिए आयी हो ?"

"ऊँ हूँ।" बीरी उसकी कडकती हुई आवाज़से तनिक भी प्रभावित न होती हुई बोली, "मै आपको शक्ति प्रदान करने आयी हूँ।"

"क्या मतलब ?"

"आपने ही तो एक बार अपने किसी साथीसे कहा था कि आपका विवाह या तो मृत्युसे और या फिर किसी ऐसी लडकीसे होगा, जो न केवल मृत्युका आलिगन करना जानती हो, बल्कि मृत्युको उँगलीपर नचा भी सकती हो।"

'निस्सन्देह किसी समय मै इस प्रकारकी बाते किया करता था, पर अब तो विवाहकी बात सोचनेका मेरे लिए प्रश्न ही नही उठता, जब कि पहली किस्मकी अपनी मगेतरसे भाँवर लेनेमे केवल सुबहका सूर्य चढना ही बाकी है।"

"यह मै जानती हूँ कि आप मृत्युकी वेदीपर बैठनेके लिए उतावले हैं। यह भी सुन चुकी हूँ, जो अपने साथियोसे आप कहा करते है कि फाँसी चढनेके लिए आप इसलिए उतावले है कि दूसरा जन्म पाकर अपने अधूरे कार्योंको फिरसे आरम्भ कर सकेंगे। सच ही यह बात आपने कही थी या लोग ऐसे ही गप्पें हाँकते है ?"

"कही थी, रघुबीर। केवल कही ही नही, बल्कि यही मेरे जीवनकी अन्तिम इच्छा है।"

"गोया आप पुनर्जन्ममें विश्वास रखते हैं – क्यों ?"

'बेशक, पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें मेरा शत-प्रतिशत विश्वास है ।"

"और मेरा भी । तभी तो मैं चाहती हूँ कि यदि इस जन्ममें मैं अपने देशके लिए कुछ नहीं कर सकी तो दूसरे जन्ममें कुछ कर दिखाऊँ । पर मैं तो आप-जैसी पुरुष नहीं, बल्कि एक कमजोर-सी लड़की हूँ, जो शायद अकेले अपने निशानेपर पूरी न उतर सके । तो उस स्थितिमें क्या आप मुझे सहयोग देनेसे इनकार करेंगे ? मुझे विश्वास है कि इनकार चाहकर भी आप नहीं कर सकेंगे । इस बातका मुझे दिलके बेतारके तार-द्वारा समाचार मिल चुका है । मेरे ऊपर ओढ़ी हुई यह लाल रंगकी शाल देख रहे हैं न ? जब मैं आपसे मुलाकात करनेके लिए घरसे निकल रही थी, तो मैंने इसे शाल नहीं, बल्कि 'सालू'[1] समझकर ओढ़ा था ।"

सराभाके हाथोंमें अब सलाखोंके स्थानपर बीरोकी कलाइयाँ थीं । बीरोपर उसे प्रेमसे कहीं अधिक दया आ रही थी ।

"चलो, मान लिया", सराभाकी आवाज फिरसे कोमल होती जा रही थी, "पर पगली, जिसका सहयोग प्राप्त करनेके लिए तुम इतनी उतावली हो, वह तो कल जा रहा है । और तुम्हें तो अभी बहुत लम्बी जिन्दगी बितानी है । मैं फिर कहूँगा कि तुमने यह पागलपनकी बात सोची है रघुबीर ! इसका अर्थ यह हुआ कि तुम सारी उम्र विधवा बनकर "

बीरो क्रोधित हो उठी, "खबरदार जो ये शब्द फिर कभी जबानपर लाये ! एक अमर पतिकी पत्नीको विधवा कहते हो, जिसके सोहागपर प्रलय तक भी कभी आँच नहीं आ सकती !"

"रघुबीर !" बीरोके प्रति सहानुभूतिमें सराभा पूरी तरह छलक रहा था, "ऐसा नहीं हो सकता । तेरे-जैसी सुन्दर लड़की व्यर्थ हो अपनी जवानीको मिट्टीमें मिलानेको उतारू हो जाये, यह हरगिज "

१. 'सालू' एक विशेष प्रकारकी ओढ़नीको कहते हैं, जिसे विवाहकी वेदीपर जाते समय दुल्हन ओढ़ती है ।

"बस यही एक बात तो मैं आपसे पूछना चाहती हूँ। ठीक-ठीक बताइए, क्या मेरा सौन्दर्य आपको पसन्द है ?"

बीरीके हाथ सराभाके हाथोंमें गरम होते जा रहे थे। सराभा एक अद्भुत अवस्थाका अनुभव करता हुआ बोला, 'रघुबीर, इस समय तुम मेरे सामने यह कितना व्यर्थ-सा विषय लेकर आयी हो! तुम्हारी सभी बातोंके उत्तरमें मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी जिन्दगीमें न तो कभी कोई लड़की आयी, और न ही विवाह-शादीके सम्बन्धमें मैंने कभी अधिक सोचा ही। कुछ तो आयु ही ऐसी थी, और कुछ यह कि एक क्रान्तिकारीके लिए इस प्रकारकी बातें सोचना ही पागलपन होता है। फिर भी मनकी बात छिपाऊँगा नहीं, उस दिन तुमसे जो भलोवालमें मुलाकात हुई थी, उसके बाद अनिच्छा होते हुए भी तुम्हारे विषयमें कई प्रकारके विचार मेरे हृदयमें-से गुजरते रहते। पर मैं इन सभी विचारोंको ठुकराकर अन्तरतमसे निकालता रहा। सोचा करता था कि यदि मैं क्रान्तिकारी न होकर साधारण व्यक्ति होता, तो विवाह-शादीके सम्बन्धमें शायद रघुबीरके अतिरिक्त दूसरी किसी भी लड़कीकी ओर मेरा ध्यान न जा सकता। पर इससे मेरा मतलब यह नहीं कि'"

"आपका मतलब चाहे कुछ भी हो।" बीरीने उसकी बात बीचमें ही टोकते हुए कहा, "पर मेरा हरगिज यह मतलब नहीं कि प्रेमके जालमें फँसाकर आपको लक्ष्यसे भटका दूँ। आपके कारनामे सुननेपर ही तो मुझमें देश-भक्ति जाग्रत हुई। मेरे हृदयमें एक हसरत पैदा हो गयी कि कभी मैं भी लोहेकी तरह लकड़ीसे चिपककर तैर सकती। जिस दिन मुझे खबर मिली कि आपको मौतकी आज्ञा हो गयी है, तो क्या बताऊँ, बार-बार सोचती 'यदि एक ही रस्सीसे, एक ही समयपर हम दोनोंको लटकाया जाता···!"

उत्तरमें सराभा कुछ कहने ही वाला था कि बीरीने उसे रोक दिया, "फिर भी इतनी हिम्मत कभी न कर पाती यदि मुझे यह विश्वास न

होता कि आपके हृदयमें मेरे प्रति थोडा-बहुत स्थान है। और मेरा यह विश्वास और भी पक्का हो गया जब मुझे आपका प्रकाशित वह सन्देश मिला। खैर, इन बातोंको छोडिए, समय बहुत हो चुका है और बिछुडनेसे पहले मैं एक बात आपसे पूछना चाहती हूँ ?"

"पूछो, रघुबीर, जो तुम्हारे मनमें आये।"

"पूछना नही, बल्कि कुछ माँगनेके लिए आयी हूँ – देंगे ?"

"यदि दूँगा नही तो तुम जबरदस्ती भी छीन लोगी," सराभा मुसकराया "शैतानकी नानी क्या नही कर सकती ?"

"मैं मैं " बीरी कुछ रुककर बोला, "आज वर प्राप्तिकी आशा लेकर आयी हूँ – ठुकराइए नही।"

"ओ, बीरी !" सराभा भावावेशमें खोता जा रहा था, "तुम··· तुम " और इससे आगे वह कुछ नही बोल सका।

"कह दीजिए एक बार – तथास्तु।" बीरीको आँखोमें याचनाके वही भाव थे जिन्हे ठुकरानेके लिए मनुष्य छोड भगवान्में भी हिम्मत न हो। सराभाकी ज़बानने शिथिल-सी हरकत की – त···तथास्तु।"

"धन्यवाद !" उसके हाथोंको दबाती हुई बीरी गद्गद होकर बोली, "आपने मेरे 'माल्' की लाज रख ली।"

"पर बीरी" सराभा इस समय बीरीके प्रति सहानुभूतिके भावोंमे डूबा हुआ था, "यह माँगकर तुमने अपनी जवानीसे कितना अन्याय किया, यही सोच रहा हूँ ! इतने खतरोंमें तुमने अपनेको "

"छोडिए भी !" वह दुल्हनके-से नखरेमें उसके पजेको हलका-सा झटका देकर बोली, "ऐसी बातें कहकर भारतमाताकी एक बेटीका निरादर करेंगे तो मैं झगडा कर बैठूँगा।"

केवल प्रेम ही नही, बीरीके प्रति श्रद्धाके रगमें रँगकर वह बोला, "ठीक अर्थोंमें तुम भारतकी बेटी हो, तुम्हारी बातें सुनकर पहले तो मैं भयभीत हो उठा था, कि शायद तुम मेरे मनको कमज़ोर बनाने आयी

हो, पर अब मुझे पता चला कि तुम मुझे एक नयी शक्ति देकर जा रही हो।"

"ये प्रशंसाकी बाते छोडिए।" वह हँस पडी, "यदि आपको मुझमे कोई ऐसा गुण दिखाई दिया हो तो आप मुझमे अपनी ही परछाईं देख रहे हैं, नहीं तो मुझ-जैसी गँवारू लडकीमे क्या इस तरहका कोई गुण हो सकता है ?"

बातचीतका क्रम यहाँतक ही पहुँचा था कि वही भारी-भरकम बूटो-की चाप सुनकर दोनोका ध्यान भंग हो गया। उन्होंने देखा कि बरामदेसे वही कर्मचारी, जो बीरोको मुलाकातके लिए लाये थे, गुजर रहे थे। जो इस बातका सकेत था कि मुलाकातका समय लम्बा होता जा रहा है। यदि सराभाकी जगह कोई अन्य कैदी होता तो अबतक शायद कबकी यह मुलाकात समाप्त करवा दी गयी होती, पर सराभासे इतनी बात कहनेकी किसमे हिम्मत थी!

"अच्छा मेरी दुल्हन!" सराभाके चेहरेपर उल्लास और दयाके मिश्रित भाव थे, "हमारा स्वयवर हो गया। परन्तु एक बात बहुत बुरी हुई कि इस समय "घूँघट उठानेके लिए तुझे देनेके लिए मेरे पास कुछ नही है। दुल्हनके हाथपर कुछ-न-कुछ तो रखना ही चाहिए था।" कहते-कहते जब उसने नीचेकी ओर ध्यान किया तो देखा कि बाहरसे पीपलका एक सूखा पत्ता हवासे सरकता हुआ सलाखो-द्वारा अन्दर तक आ गया है। उसने झुककर वह उठाया और बीरोको देता हुआ बोला, "लो, इसे ही मुँह दिखानेकी भेट समझ लेना।"

पूरे चावसे, मानो मोतियोकी माला हो, बीरोने उसे यह कहते हुए पकड लिया, "यह शकुनकी निशानी है। तभी तो विवाहके अवसरपर लोग इसे दरवाजोपर बाँधकर बन्दनवार बनाते है।" और उसने उस भेंटको चूमकर हृदयसे लगा लिया।

"ले मेरी रानी," बीरोके हाथको होठोसे छुआकर सराभा बोला,

"हमारी सुहागरातका यह पहला चुम्बन।" और फिर बीरीने भी वैसे ही किया।

इससे पहले कि लौटनेके लिए बीरी कदम मोडती, सराभा – जो उसके चेहरेपर दृष्टि गडाये खडा था – ऐसे बोल उठा मानो उसे बीरीके चेहरेपर कोई अनिष्टकारी झलक दिखाई पडी हो, "अरे दुल्हन, तुम्हारी आँखोमे यह क्या देख रहा हूँ ?"

"कुछ भी तो नहीं," बीरी बोली, "डरिए मत। ये आँसू नही, मिलनकी खुशीने पलकोको तनिक बोझिल बना दिया है।"

"ऊँहूँ।" वह बोला, "चाहे कैसे भी हो, यही चीज़ क्रान्तिकारियो-को सबसे बडी शत्रु समझी जाती है, ज़रा आगे बढो।"

बीरीका माथा सलाखोसे सट गया। सराभाने उसकी शालका कोना पकडकर उसकी आँखोपर फेरते हुए कहा, "भारत माँकी बेटीको यह चीज़ कभी भूलकर भी आँखोमें नही लानी चाहिए।"

"भूल हो गयी," बीरी सलाखोको छोडती हुई बोली, "जब हम दूसरे जन्ममे मिलेंगे तो आप मुझे अबसे दृढ पायेंगे।"

सराभाने उसके हाथोको एक प्यारी-सी अदासे सलाखोसे बाहर कर दिया और कहा, "अच्छा मेरी रानी, शुभ-रात्रि।

"शुभ रात्रि, मेरे रा ···जा !" उच्चारण करते समय बीरीके मुँहसे वाक्यका अन्तिम भाग टूटकर निकला। कदाचित् एक बार फिर उसी स्त्री-सुलभ निर्बलताके कारण आँखो तथा गलेकी आर्द्रताने उसे हिला दिया था। लौटनेसे पहले बीरीको इतनी-सी बात और सुनाई दी, "देखना, कहीं इतनी भारी गठरी रास्तेमें ही न फेंक देना।"

"आप मेरी चिन्ता न करे।" बीरीकी आवाज़ कुछ काँपकर निकली, "आप अपनेपर नियन्त्रण रखें। कही कदम लडखडा न जाये तख्तेपर जाकर।" कहकर जब बीरीने कदम मोडे तो सराभा-द्वारा गायी जा रही ये पंक्तियाँ दूर तक उसे सुनाई देती रही—

'मज़ा इश्क़ का कुछ वही जानते हैं,
कि जो मौत को ज़िन्दगी जानते हैं।
नहीं जानते हैं कि अंजाम क्या है,
वो मरना महज़ दिल्लगी जानते हैं।'

····सबेरे-ही-सबेरे 'आजका ताज़ा परचा' पुकारनेके साथ-साथ हॉकर 'ताज़ा परचे' के कुछ शीर्षक भी सुनाये जा रहा था—

' ग़दरके सातो दोषियोको फाँसीपर लटका दिया गया···

···· ···· ···· ···· ···· ····

"गण्डासिंह रसालदार – जिसने कर्तारसिंह सराभाको गिरफ़्तार कराया था – एक लडकी द्वारा कत्ल कर दिया गया····और रिवाल्वरकी दूसरी गोलीसे कातिलाने आत्म-हत्या कर ली····।"

● ●

अरणसीतै ज़ख़म

० ० ० ० ०

वार्ता साधारण और एक-पक्षी है इस पुस्तककी, जिसकी पृष्ठभूमिमे सन् सत्तावनके विद्रोहकी झलक है, और इसका अन्तिम छोर सन् १९४२ के कांग्रेस आन्दोलन 'भारत छोडो' को छूता है। इमीके अन्तर्गत किसानोके एक छोटे-से दलमे जागृतिका एक नन्हा-सा प्रकाश-बिन्दु चमकता है, जिसके क्षीण प्रकाशमे उन लोगोको अन्धकारमय अन्तरात्मामे स्वाभिमानकी उष्णता उपजती हैं। और तत्काल ही वह उष्णता एक स्थानीय आन्दोलन-का रूप धारण कर लेती है।

भले ही यह क्षणिक-सा आन्दोलन किसी महत्वपूर्ण परिणामका जनक नही बन पाया और अन्तत अपूर्ण ही रह गया। परन्तु पाठकोंके मन-रूपी चौखटेमे यह एक पूर्ण चित्र अवश्य छोड जायेगा, ऐसा ही मेरा विश्वास है।

चित्र है फूहड, अपढ और बेढंगे-से स्वभावकी एक युवती 'माला' का, जिसे बात तक करनेका शऊर नही, शिक्षाका अर्थ समझनेकी सामर्थ्य नही। पर इतना होनेपर भी वह प्रेम और मानव-सेवाके महत्वको न केवल समझती ही है, बल्कि इस प्रकारके किसी हवन-कुण्डमे अपने जीवनकी आहुति देना भी जानती है। 'कहने' का ढग उसे नही आता, पर 'करने' की क्षमता रखती है वह।

मूल रूप (पजाबी) मे जब मै इस पुस्तकको लिख रहा था तो एक दूसरी बातकी आशका भी मेरे मनमे थी। और वह यह कि कही इसे पढकर

कतिपय पंजाबी पाठक (जो साम्प्रदायिकताके शिकार होकर हिन्दी और पंजाबीका झगडा खडा कर रहे हैं) नाराज न हो जायें। कारण ? एक तो इसमे अधिक पात्र गैर पजाबी लाये गये हैं, दूसरा वार्तालापके समय उन्हें पजाबी भाषाके स्थानपर मैंने उन्हीकी स्थानीय भाषामे बुलवाया है। मेरे मनमे एक चिर-लालमा बनी हुई है (विशेषत जबसे मेरे अभागे पजाबमे भाषाका तनाव-हिन्दू-सिख प्रश्न बना है) कि हिन्दी और पजाबी भाषाओको इतना निकट देखूँ जितना माँके निकट बेटी, अथवा बडी बहन-के निकट छोटी बहन। उस शुभ समयकी मैं उत्सुकतासे प्रतीक्षा करता चला आ रहा हूँ जिस दिन प्रत्येक पजाबी, हिन्दी भाषाका समर्थक होगा, और प्रत्येक हिन्दी भाषी, पजाबीका प्रेमी होगा। मेरे निश्चयमे यह बात गहरी समायी हुई है कि साम्प्रदायिक नारोंसे न तो हिन्दी उन्नति कर सकेगी न ही पजाबी।

इस निश्चयके अनुरूप मैंने इस उपन्यासमे जान-बूझकर हिन्दी और पजाबी-का सगम उपस्थित किया है और इसी भावनासे प्रेरित होकर इसमे 'सन्तोखसिंह' 'माला' और 'शर्मा' की त्रिवेणी दिखलानेका यत्न किया है। गत तीस वर्षोंमे मैंने उपन्यासोके रूपमे जितना और जैसा कुछ भी लिखने-का प्रयास किया है, मेरी नजरोंमे तबतक उसका मूल्य फूटी कौडी भी नही जबतक कि मेरे देशमे साम्प्रदायिकताका फोडा मौजूद है, जिसे यथाशक्ति मिटानेकी ही धुनमे आज तक कलम घिसता चला आ रहा हूँ और जीवनके अन्तिम क्षण तक घिसता रहूँ, यही मेरी अभिलाषा है।

○ ○ ○ ○ ○

तेरहवाँ परिच्छेद

यह तो सच है कि शर्माको आसपासके सभी लोग श्रद्धासे देखते थे, विशेषतया सन्तोखसिंहका परिवार। परन्तु मानवरूपी मशीनके पुरजोंके लिए जिस चिकनाईकी जरूरत रहती है, उसका अभाव शर्माके अन्तरमें

एक प्रकारकी शून्यता-सा बनाये रखता।

परन्तु इधर कुछ दिनोंसे उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसके भीतरकी शून्यता कुछ कम हो रही हो और उसकी एक जगह प्यारी-प्यारी और रस-भीनी-सी मिठास भरती जा रही हो। इस अनोखे परिवर्तन-के बारेमे जब वह गहराईसे सोचता तो यही उत्तर उसे अपने भीतरसे मिलता – "वही तो है फूहड किस्मकी छोकरी, भद्देसे नामवाली !"

नामके बारेमे उसका विचार ठीक ही था। इतनी साहसी हँसमुख और बेझिझक लडकी, और इतना बेढगा नाम – 'ततिया'। वह सोचता, 'क्या इसके माँ-बापको बेचारीके लिए यही नाम मिला था – ततिया ?'

कई बार उसकी इच्छा होती कि वह किसी दिन ततियाको इस बारेमे टोके। फिर स्वयं ही यह सोचकर लज्जित हो जाता – "भला मुझे क्या अधिकार है उसे टोकनेका ? क्या रिश्ता है मेरा उससे ?" इसी बीचमे एक दिन ऐसा अवसर आया कि अनायास ही उसे ततियाको टोकनेका बहाना मिल गया।

एक तो काफी निकटता हो जानेके कारण, दूसरे शर्माकी सेवाका जिम्मा उसीपर होनेसे, और तीसरे स्वभावकी फूहड होनेके कारण ततिया अब शर्माके साथ बेझिझक बातचीतके अलावा हँसी-मज़ाक भी कर लेती थी। भले ही, वह इस बातका भी अनुभव करती थी कि ऐसी निम्न जातिकी लडकीको एक सम्मानित व्यक्तिके प्रति ऐसा व्यवहार नही करना चाहिए, परन्तु यह जानते हुए भी वह अपने स्वभावसे विवश थी।

आज जब तीन दिन और तीन रातें बाहर बिताकर शर्मा फूलसिहा लौटा तो भीतर घुसनेसे पहले उसने ततियाको झूम-झूमकर कोई गीत गाते सुना। उसके हाथमे झाडू थी और वह उसके झोपडेकी सफाई कर रही थी। अन्य गुणोके अतिरिक्त ततियाके पास इतना सुरीला कण्ठ भी है, यह बात शर्माको इससे पहले नही मालूम थी। वहीके वही ठिठक गया और दरवाज़ेके पीछे होकर गीत सुनने लगा। ततियाकी पीठ इधर थी

और वह गाये जा रही थी –

"काँटा लागो रे देवरिया मोपै गैल चलो ना जाइ ।
अपने पिया की मैं अलबेली, चलती-फिरती बेल चमेली ॥
धूप लगे कुमलाइ । कांटा ...."

और फिर जब उसके गानेकी प्रशंसा करते हुए शर्मा भीतर घुसा तो ततिया तनिक झेंपकर बोली – "अरे सरमाजी, तुम आ गये ? कहाँ घूमा किये इतने दिन ?"

उत्तर देनेके स्थानपर शर्माने व्यंग्य कसा – "सरमा क्या है रे ! सीधी तरह 'शर्मा' नही कहा जाता ?" उत्तरमे ततिया अपने उसी बेझिझक लहजेमे हँसती हुई बोली – "सरमा ही तो कहा मैने ।"

"मैं कहता हूँ, सरमा नही, 'शर्मा' बोल !"

"सरमा-सरमा सरमा । वही तो कहे जा रही हूँ ।"

"अच्छा, बोल 'श' ।"

"स ।"

"स नही श कह !"

"स ।"

"हे भगवान् ! तेरे भेजेमें तो गोबर भरा है ! अपना नाम तो माँ-बाप-ने बिगाडा, अब दूसरोका भी बिगाडने लगी !"

"तो मेरा नाम क्या कुछ बुरा है, सरमाजी ?"

"बुरा नही, बहुत सुन्दर है । ऐसा भोडा नाम तो मैने किसी लड़की-का आज तक नही सुना है ।"

"अच्छा, तो तुम कोई भला-सा नाम रख दो न, जो तुम्हे अच्छा लगे ।"

"मैं तो कबका रख चुका, पर तुझे भी तो पसन्द आये ।"

"अच्छा, बताओ तो ?"

"माला ।"

"माला ?"

"हाँ।"

"पर वो तो गलेमें डाली जाती है, सरमाजी ?"

"गलेमें भी डाली जाती है और जपी भी जाती है। दूसरे किसीके लिए भले ही तू मोतीकी माला बन जाये पर मेरे लिए तो तू रुद्राक्षकी माला है।"

"अच्छा, तो आजसे मैं इसी नामसे पुकारी जाऊँगी, सरमाजी!"

"और जो कोई 'ततिया' कहकर पुकारेगा तो ?"

"तो ?" उसने बायें हाथका घूँसा तानकर कहा – "उसे मारते-मारते ज़मीनपर सुला दूँगी।"

"शाबाश! बडी बहादुर हो!"

इस 'शाबाश' को सुनकर ततिया····नहीं, मालाका अंग-अंग पुलकित हो उठा।

ततिया अथवा 'माला'ने फिरसे वही पूछा—

"कहाँपर घूमे इत्ते दिन, सरमाजी ?"

"घूमनेकी एक हो कही। वोही तो झमेला है, क्या नहीं जानती हो तुम ?"

"सो तो जानती हूँ, पर ।"

"हाँ, हाँ, बोल! क्या कहन जा रही थी ?"

"पहलेकी तरह तुम मुझे क्यों नहीं जाने देते ?"

"कहाँपर ?"

"वहीं—मीडकमें।"

"भई, बात यह है माला कि तुझसे डर लगता है मुझे।"

"काहे जी! मैं कोई पिसाचनी हूँ जो तुम्हें मुझसे डर लागे है ?"

"ऐसा नहीं पगली। बात यह है कि तू मीटिंगमें जाकर एकदम बहकी-बहकी बातें करने लग जाती है।"

"तो क्या तुम्हारी तरह दूसरोकी अण्ट-सण्ट सुने जाया करूँ ? यह तो मुझसे नही होनेका। बड़े भइयाने एक बार बताया था कि बिलासपुरकी मीडकमे तुम्हे गारी दे दी उस डाढीजारने, और तुम घुटनोमे मुँह छिपाये रहे !"

"किसकी बात करती हो तुम ?"

"अरे और किसकी। उसी मुँहझौसे हाजीकी। एक तो हम लोगोके खेतोपर कुण्डली मारे बैठा है नासपीटा, और ऊपरसे रौब गाँठने चला ! जैसे उसके बाप-दादाके है खेत ! और फिर तुम्हे गरियाने भी लगा ! मै जो वहाँपर रहती, तो आँखें नोच लेती उस खूसटकी।"

"उँह ! पगली कहीकी ! तेरे आँखे नोच लेनेपर क्या हाजीके कब्जेसे खेत छूट जाते ? कितनी बार समझाया कि इस तरह जोशसे काम नही चलनेका, उलटा बिगडनेका ही खतरा रहता है। कई बार ता तुझे गान्धी बापूके सिद्धान्त समझा चुका हूँ, पर ।"

और शर्माजीने फिर वही भाषण शुरू कर दिया, गान्धीवाद, अहिंसा, सत्याग्रह, शान्ति और न जाने क्या-क्या। बोलते-बोलते वह यह भूल ही गया कि ये बाते वह एक अनपढ और मोटी अक्लवाली लडकीसे कह रहा है, किसी सभामे भाषण नही दे रहा। आधे होठ खोले और पूरी आँखें फैलाये सुनती चली गयी माला।

"कुछ समझमे आया ?" भाषण समाप्त होनेपर उसने पूछा—"क्या कहा मैने ?"

"न जाने कैसी-कैसी बातें करते रहे तुम, सरमाजी।"—उसी सरलतासे वह बोली।

"तो कुछ भी तेरी समझमे नही आया ?"

"नही तो।"

"हे राम ! सच ही तेरे दिमागमे गोबर भरा है।"

"खफा हो गये सरमाजी ?"

"खफा नहीं, खाक हो गया !"

"अच्छा, तो एक ठो गीत सुनाऊँ तुम्हें ? अपनी कसम, बडा ही मीठा गीत ।"

"भाडमें जाये तेरा गीत-बीत ! इधर समझाते-समझाते मगज खोखला हो गया, और रानीके पल्ले पडे वही ढाकके तीन पात !"

मालाके लिए यह कोई नयी बात नही थी। पहले भी प्रायः ऐसा ही होता था। जब कभी वह शर्माकी लेक्चरबाजीके पश्चात् अपनी अनभिज्ञता प्रकट करती, तो शर्माका पारा चढ जाया करता। परन्तु मालाके पास एक ऐसा मन्त्र था, जिसके प्रयोगसे शर्मा चाहे जितने भी क्रोधमें हो, वह उसे तुरन्त ठीक कर लेती थी। और यह मन्त्र था उसका 'गीत सुनाने' का प्रस्ताव। परन्तु आज जब शर्माने उसका यह प्रस्ताव भी ठुकरा दिया तो उसके दिलको ठेस पहुँची। शर्माने भी इसे अनुभव किया। अपने कटु बरतावपर उसे ग्लानि हुई। शायद यह सोचकर कि बेचारीका इसमें क्या दोष। उसने मधुरतासे कहा – "कितना अच्छा होता, माला, अगर तू थोडा पढ लेती।"

मालाका डूबता-डूबता मन जैसे इस वाक्यने थाम लिया – "तो तुम ही पढा डालो न सरमाजी ! उस दिन तुमने कहा नही था कि गान्धी बापूकी लुगाई कुछ भी पढी-लिखी नही थी, और गान्धी बापूने उसे पढाकर खूब 'लकचर' मारनेका ढग ·।" और बोलती-बोलती वह लज्जाके गहरे सागरमे डूब-सी गयी। उसे अपनी मूर्खताका अनुभव हुआ – 'गान्धी बापूकी लुगाई' वाला उदाहरण जो दे बैठी थी वह। गान्धी बापूने तो अपनी 'लुगाई' को पढाया और 'लकचर' मारनेका ढंग बताया था, परन्तु मालाके साथ इस उदाहरणका क्या सम्बन्ध ?

कहकहा लगाकर हँस पडा शर्मा और इस हँसीने मालाकी लज्जाको मात्रा और ज्यादा कर दी। फिर भी बोलनेसे नही रुकी – "काहे हँसने लगे सरमाजी ?"

"यूँ ही, एक बात याद आ गयी।"

"कौन बात ?"

"एक दिन बड़े भइयाने भी ऐसी ही बेतुकी बात कही थी मुझसे।"

"कब ? कैसी बात ?"

और इसके उत्तरमें शर्माको सब विस्तारमें बताना पड़ा कि कैसे एक रात सन्तोखसिंह उसे घेरकर बैठ गया था और इधर-उधरकी बातोंके बाद उसने मतलबकी बात चलायी थी – "कितना अच्छा हो शर्माजी, अगर मालाको आप हमेशाके लिए अपनी बना लें।" और उत्तरमें जब शर्माने हील-हुज्जत शुरू की तो सन्तोखसिंहने यही गान्धी और 'कस्तूरबा' का उदाहरण देकर उसे प्रायः निरुत्तर कर दिया था।

सुनकर पहले तो माला अपने स्वभावके विपरीत कुछ शरमा गयी, पर दूसरे ही क्षण उसकी चंचलता जाग उठी – "ऊँह ! बड़े भइया भी कैसी भोंडी बातें किया करते हैं।"

शर्माने और बात छेड़ी – "और वो तो कहते थे कि उन्होंने भाभी-की मार्फत तुझे भी ये सब बातें कहलवा दी थीं। क्या यह सच है ?"

मालाका सिर झुक गया अपने घुटनोंपर।

"बोल तो !"

माला नहीं बोली।

"नहीं बतलाओगी ?"

"नहीं बताऊँगी जाओ।" कहते-कहते मालाका चेहरा लाल हो उठा।

"अच्छा जाने दे, नहीं पूछता !" शर्माने शायद इससे अधिक इस बातको कुरेदना ठीक नहीं समझा – "हाँ, तो सुना दे फिर वो अपना 'एक ठो' अच्छा-सा गीत।"

और बिना आनाकानी किये मालाने गीत गाना शुरू कर दिया, किन्तु बहुत धीरे-धीरे जो आवाज़ झोंपड़ीसे बाहर न जा पाये –

"राधा रनियाँ करत रसोई,
मेघा मइया पनियाँ लाये ।
सोने की थरिया में भात परोसउ,
कान्ह-कन्हैया रुच-रुच खाये ।
अम्बुआ की डारी पै रेशम का झूला,
कारी बदरियामें छुप-छुप जाये ।
कान्हा की पगरी डगमग डोले,
राधा की चुनरी उड़-उड़ जाये ।"

● ●

आदमखोर

० ० ० ० ०

"ससारमें नर-भक्षी मानवोकी भी एक योनि होती है जो मनुष्यका मास खाते है।"

ऐसी अनेक किवदन्तियाँ हमारे देशमे प्रचलित है और अनेक धर्म-ग्रन्थोमे भी कही-कही ऐसा वर्णन आता है जिसे कुछ लोग सत्य मानते है और कुछ असत्य, पर जिन नर-भक्षियो (आदमखोरो) का वर्णन इस उपन्यासमे आया है वे न तो कल्पित है और न ही अलौकिक बल्कि इस शताब्दीमे और आजके ही जमानेमे उन आदमखोरोका अस्तित्व पाया जाता है जिनके रसोई-घरमे नरमास पकता है, जिनकी प्यास बुझानेके लिए आज भी मानव-रक्तके स्रोत बहाये जाते है – जिनके मनोरजनके लिए आज भी अबलाओके सतीत्व नष्ट किये जाते हैं।

ऐसे ही एक आदमखोर 'सरदार ठाकुरसिंह' की कहानी है। यह ठाकुरसिंह एक बहुत बडी मीलका मालिक है, हजारो श्रमिकोका भाग्य-विधाता, जिसके जीवनका सिद्धान्त है – 'सब कुछ हमारे लिए है, और 'सब कुछ' की सीमामे कितना कुछ समाया हुआ है – यह एक बहुत लम्बी कहानी है जिसे उपन्यासके पृष्ठोमे ही छोडकर हमे ठाकुरसिंहकी धर्म-पत्नी 'अमरकौर' का चित्र देखना है। वह एक धर्मभीरु और पति-परायणा स्त्री है, आरम्भसे ही अपने धर्म-शास्त्रोके इस उपदेशका पालन करती चली आ रही है, कि 'नारीके लिए उसका पति परमेश्वरका रूप है।' इसी धर्मोपदेशका पालन करती हुई अमरकौरने अपने पति परमेश्वरके दुराचरण-

की ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा था, पर क्या अमरकौरके उस पति-परमेश्वरको इतनेसे सन्तोष हो सका ? अगर हो गया होता तो क्यो वह अपनी इस पतिव्रता पत्नीके होते हुए, बुढ़ापेकी उमरमें एक नयी दुलहिन ले आता। और क्यो उसके आनेके थोडे ही समय बाद अमरकौरको दूधसे मक्खीकी तरह निकालकर बाहर फेंक दिया जाता ? जब कि ठाकुरसिंह अपनी नववधूके साथ एक आलीशान कोठीमे निवास करता है, बेचारी अमरकौर नगरकी एक गुमनाम गलीमें जा बसती है। उसे यह सजा कदाचित् इसलिए दी गयी कि उसने अपने पतिके लिए उसकी धन-सम्पत्तिको सँभालनेवाला एक भी उत्तराधिकारी नही दिया था। इसमें दोष पतिका था या पत्नीका, इस रहस्यको तो भगवान् ही जानें, या फिर वे डॉक्टर लोग जानते होंगे जिन्होने ठाकुरसिंहको मन्त्रणा दी थी कि अगर वह इग्लैण्ड जाकर एक विशेषज्ञकी सहायतासे अपने ग्लैण्ड बदलवा डाले तो अवश्य ही उसकी पुत्र-कामना पूरी होगी।

साध मिटानेके लिए अथवा अपनी रिक्त गोदको भरनेके अभिप्रायसे अमरकौरने अपने किसी रिश्तेदारका एक लड़का लेकर दत्तक पुत्र बना लिया था जिसका नाम था प्रितपालसिंह। जवान होकर प्रितपालने जब अपने उस पालक पिताके आचरणको देखा तो उसके पाँवो तलेसे धरती खिसकने लग गयी। विशेषत जब उसकी धर्म-माता अमरकौरको निर्वासित करके उसके स्थानपर ठाकुरसिंहने एक ऐंग्लोइण्डियन छोकरी घरमे ला बिठायी तो प्रितपालका धैर्य एकदम समाप्त हो गया और उसने घर छोडनेका निश्चय कर लिया। अमरकौर उसे रोकनेके लिए बहुत रोयी, गिडगिडायी, पर हठी प्रितपाल नही माना और एक दिन वह घरसे निकल ही पडा।

बहुत दिनो घूमते-फिरते रहनेके पश्चात् उसे एक पुराना मित्र – जिसका उपनाम था 'भारती' – मिल गया। उन दिनो बगावतके अपराधमे भारतीके नाम वारण्ट निकल चुके थे और उसे पकडनेवालेके लिए एक

बड़ी रक़म इनाममें अँगरेजी हुकूमतने रख दी थी। भारतीके सम्पर्कमें आकर उसे उसी प्रकारकी लगन लग गयी और फिर वह भारतीको पार्टीमें शामिल होकर उनके कार्यक्रमोंमें भाग लेने लगा।

इसी बीचमें भारती बीमार पड गया। डॉक्टरोंने उसे एक आध महीनेके लिए आराम करनेकी सलाह दी। पर भारतीका तो कोई घरबार था नही — उसने तो अपने जीवनका अधिक भाग अँगरेजोंकी जेलोंमें ही व्यतीत किया था। तब प्रितपालने इस बोझको अपने ऊपर लिया और भारतीको बीमारीकी हालतमें वह अपने नगरमें ले आया।

कहानीके दूसरे पहलूमें गाँवकी एक नवयौवना 'सुलोचना' और उसके पति 'सिंगारासिंह'का चित्रण है। सिंगारासिंह एक जमीदारका लडका है जो पिताकी मृत्युके बाद अपने भाइयोके अन्यायसे तंग आकर पुलिसमें भरती हो जाता है। इसी बीच एक टुकडीके साथ मिलकर वह बागियोंके एक दलको पकड़नेके लिए जाता है। और वहाँपर पैरमें गोली लग जाने-पर उसे अस्पताल पहुँचा दिया जाता है। उसकी टाँग काट दी जाती है और साथ ही महकमेकी ओरसे उसे इस अपराधमें डिसमिस कर दिया जाता है कि वह बागियोका मुकाबला करते हुए डरकर भाग निकला था। अन्तत: जब वह अपाहिज बनकर गाँव पहुँचता है तो उसके भाई जो पहले ही उसे नही चाहते थे — आँखें फेर लेते है और पैतृक सम्पत्तिसे वंचित करके उसे भगा देते है। लाचार होकर सिंगारासिंह सुलोचनाको साथ लिये शहरमें जा निकलता है और काम-काजकी खोजमें मारा मारा फिरता है। पर जब कही भी पाँव नही जम पाते तो चोरी-चकोरीको अपनी जीविकाका साधन बनाता है। परन्तु चोरी करनेके लिए भी तो स्वस्थ और सबल शरीर चाहिए और सिंगारासिंहके पास तो एक ही टाँग थी।

सुलोचना अमरकौरके पडोसमें एक छोटे-से मकानमें किरायेपर रहती है। उस सुन्दरी-सलोनी लडकीपर सकटके पहाड गिरते देखकर अमरकौरका दयालु हृदय तडप उठता है और वह बेटीके समान उससे

स्नेह करने लग जाती है। इन्हा दिना ठाकुरसिंहकी नज़र रूपवती सुलोचनापर पड जाती है जिसे देखते ही वह मजनूँ बनकर उसे फाँसनेके उपाय सोचने लगता है। इससे पूर्व वह अनेक वह भोली-भाली लडकियों-को अपने माया-जालमे फँसा चुका है। इस मनोरथको पूरा करनेके लिए वह सिगारासिंहको अपने पास नौकर रख लेता है और फिर उसे बना-वटी पैर बनवानेके लिए पूना भेज देता है।

इधर सुलोचना घरमे अकेली रह जानेके कारण अपना अधिक समय अमरकौरके पाम व्यतीत करती है। इसी बीच प्रितपाल वहाँ आ पहुँचता है जिसके उच्च गुणो और देवताओं-जैसे आचरणकी बाते अमरकौरसे सुन-सुनकर सुलोचना पहले-से ही उसपर श्रद्धा करने लगी। प्रितपाल इस प्रस्तावको लेकर अमरकौरके पास आता है कि उसे वह भारतीके मकान-पर ले जाये और भारतीकी देख-भालका काम उसे सँभला दे, परन्तु अमरकौरके स्थानपर सुलोचना उसके साथ जानेको तैयार हो जाती है। और दूसरे ही दिन प्रितपाल उसे भारतीके मकानपर पहुँचाकर अपनी पार्टीके कामपर लौट जाता है।

उसके बादका वर्णन पढ लेनेपर पाठकोको सहज ही ज्ञात हो जायेगा कि गाँवके वातावरणमे पली हुई एक पजाबी नारी किस प्रकार समय आनेपर चण्डिकाका रूप धारण कर सकती है। सुलोचनाके उसी चण्डिका रूपने अन्तत उस आदमखोर ठाकुरसिहको फिरसे मनुष्य बना दिया।

० ० ० ० ०

तेईसवाँ परिच्छेद

हमारे सब विचार यदि सदा ही शब्दोमे प्रकट होने लगें, तो ससार-मे प्रलय हो जाये। प्रितपाल सुलोचनाको अपने बीमार मित्रके पास छोडकर चला गया, तो एक अपरिचित युवकके साथ अपनेको अकेलो पाकर वह बहुत समय तक सोच-विचारमे डूबी रही। रोगीके पास एक

कुरसीपर बैठी वह सोच रही थी—'यह आदमी कौन होता है मेरा जो मैं इसकी सेवाका भार सँभालनेके लिए अकेली यहाँ आ गयी हूँ ? फिर एक-दो दिनकी बात तो है नही, महीनों लग सकते है। आज बीमार है, दस दिन बाद नीरोग हो जायेगा, तो कौन जाने एक जवान लडकीके साहचर्यमें इसका मन कैसा हो जाये, आदमी ही तो है, कोई देवता तो है नही। प्रितपालका बाप भी तो आदमी है, जब वह बुढापेमे अपनी इच्छाओपर नियन्त्रण नहीं कर सकता तो यह नवयुवक.........।''

"सुलोचना !" – रोगीकी आवाज़ सुनकर उसकी विचार-शृंखला टूटी।

उसकी ओर देखती हुई वह बोली—"नरेन्द्र।"

"क्या सोच रही है ?"

"कुछ नही।"

"कल सवेरे, और सवेरे नही तो कल रात तुझे यहाँसे चला जाना पडेगा।"

"मुझे ?"

"हाँ।"

"क्यो ?"

"इसलिए कि तेरा मन दुर्बल है, तुझे अपने नारीत्वपर भरोसा नही है। और मै नहीं चाहता कि मुझपर किसी दुर्बल व्यक्तित्वकी छाया भी पडे। एक व्यक्तित्व दूसरेपर प्रभाव डालता है, सम्भव है मैं भी दुर्बल बन बैठूं।"

दबी आवाज़में उसकी बातका प्रतिवाद करते हुए सुलोचनाने कहा—"कैसे कहते हो तुम कि मै दुर्बल हूँ ?"

"इस समय तेरे हृदयमें मँडरा रहे विचारोको पढ़कर।"

बिना कुछ सफाई दिये आगे बढकर उसने रोगीके हाथ पकड लिये और बोली—"मुझसे भूल हो गयी नरेन्द्र !"

उसकी बातपर ध्यान न देकर भारती बोलता गया—"और शायद तू यह चाहती है कि जीवनकी हर नयी राहपर मैं तेरा पथ-प्रदर्शन करूँ ! तेरा गुरु बन जाऊँ।"

"हाँ नरेन्द्र, तुम्हारी सेवा-शुश्रूषासे अधिक यही चाह मुझे यहाँ खींच लायी है।"

"क्षमा करना, तू अभी इस योग्य नही है।"

सुलोचना गिडगिडाकर बोली—"मैंने समझा था कि तुम भी दूसरोंके समान होगे, शायद उनसे कुछ बडे होगे, पर देखती हूँ तुम उनसे बहुत बडे हो। मैं हाथ जोडती हूँ नरेन्द्र, मुझे यहाँसे धक्का देकर न निकाल देना ! बडी आशा लेकर आयी हूँ !" और उसने नरेन्द्रके हाथोंमें अपना मुँह छिपा लिया, उसकी आँखोंमे आँसू उमड आये।

नरेन्द्र ठठाकर हँस पडा और सुलोचनाका मस्तक ऊपर उठाकर बोला—"पगली कहींकी, तूने सोचा था कि नरेन्द्र वासनाका पुतला है केवल ? सम्भवतः मेरे अनौपचारिक व्यवहारसे तुझे यह भ्रम उत्पन्न हो गया ! निस्सन्देह मैं भी हाड-मासका बना हुआ हूँ, पर इस देहमें एक ऐसी चीज भी है जिसे अभीतक तेरी आँखें नही देख पायी है।"

"क्या ?" सुलोचनाने अत्यन्त नम्रतापूर्वक पूछा।

"देख ज़रा।"···और उसने सुलोचनाके हाथ पकडकर अपनी छाती-पर फेरना शुरू किया। सुलोचनाके हाथमें चुभ रही, सूखी, उभरी हुई पसलियोंको छोड़कर वहाँ कुछ नही था। उसी प्रकार सुलोचनाके हाथको अपनी छातीपर फेरते हुए उसने कहा—"तू जानती है इन हड्डियोंके पिंजरमें क्या छिपा हुआ है ? एक इकलाबी आत्मा ! जानती है इक़लाब किसे कहते है ?"

"हाँ, देश और जनताकी बिगडी हुई दशाको सुधारनेके लिए आन्दो-लन करना !" सुलोचनाने उत्तर दिया।

"नही पगली, वह तो राह चलता कोई भी कर सकता है। इक़लाबका

अर्थ है अनहोनीको होनीमें बदल डालना। जिसके सीनेमें असम्भवको सम्भव कर दिखानेकी शक्ति नहीं है वह सुधारक हो सकता है, देश-भक्त हो सकता है, मगर क्रान्तिकारी नहीं हो सकता ! तू सोच रही है कि एक अजनबी युवक और युवतीका साथ रहना भी अनहोनी घटना है। ठीक है, परन्तु यह तो बहुत छोटी-सी बात है। जो आदमी इस तुच्छ-सी असम्भावनाको सम्भावनामें नहीं बदल सकता, वह देश-व्यापी अनहोनीसे लोहा कैसे ले सकता है ?"

भारती बोलता गया और सुलोचना साँस रोककर सुनती रही। उसकी दृष्टि निरन्तर भारतीकी आँखोंपर जमी हुई थी ! मौतके मुँहमें पड़े हुए एक आदमीके चेहरेपर इतना तेज और इतना ओज देखकर वह आश्चर्य-चकित हो उठी ! भारतीकी बात समाप्त होनेपर सुलोचनाने कुरसीपर-से उठकर उसके सूखे हुए पाण्डुवर्ण चरण छू लिये, और उनपर मस्तक टेककर बोली – "मुझसे भूल हो गयी, नरेन्द्र ! मैं वास्तवमें यही सोच रही थी !"

हाथके इशारेसे सुलोचनाको बैठ जानेका आदेश देकर वह नरमीसे बोला – "तुम लड़कियोंका दिल अत्यन्त भावुक होता है, क्षण-भरमें ज़रा-सी बातसे मोमकी तरह पिघल उठता है। कठिनाई इस बातकी है कि स्त्री पुरुषकी अर्धांगिनी है, अर्थात् उसकी यह दुर्बलता पुरुषकी दुर्बलता बन जाती है – अभी हँसी, अभी रो दी, अभी प्यार, अभी घृणा। और इनकी मूर्खता तो देखिए कि इसपर क्रान्तिकारी सेनामें भरती होनेके लिए निकल पड़ती है !"

सुलोचना फिरसे कुरसीपर आ बैठी। भारतीने तकियेके नीचेसे घड़ी निकालकर देखते हुए कहा – "ला, एक खुराक पी लूँ !"

सुलोचनाने शीशीसे एक प्यालीमें दवा ढालकर उसे पिला दी। दवाकी कड़ुवाहटसे मुँह बनाते हुए वह बोला – "देख, यदि इस स्कूलमें भरती होनेका निश्चय कर लिया है, तो सबसे पहले तुझे आत्म-विश्वास-

की शक्ति पैदा करनी होगी ! देख क्या है यह ?" और उसने तकियेके नीचेसे एक छोटा-सा रिवॉल्वर निकालकर उसके हाथमें पकडा दिया।

सुलोचना पहले तो कुछ डर-सी गयी, किन्तु तुरन्त ही सँभल गयी ! शायद यह नरेन्द्रकी बातोंका प्रभाव था ! उसने निर्भयतासे रिवॉल्वर अपने हाथमें ले लिया और एक-दो बार घुमा-फिराकर देखनेके बाद नरेन्द्रको लौटाती हुई बोली – "देख लिया, रिवॉल्वर है !"

नरेन्द्रने रिवॉल्वर खोलकर मैगजीन निकाल ली और उसे सुलोचनाके सामने रखते हुए बोला – "कितनी गोलियाँ हैं इसमें ?"

' गिनकर सुलोचनाने उत्तर दिया – "छह।"

भारतीके होंठोपर हलकी-सी हँसी फूट पडी – "अर्थात् इस समय मेरे सिरहानेके नीचे छह आदमियोंकी मौतका वारण्ट रखा हुआ है ! ठीक है न ?"

होंठोपर जीभ फेरते हुए सुलोचनाने उसकी बात स्वीकार की।

"अच्छा बता तो" उसने पूछा – "एक जवान लडकी, किसी अकेले मकानमें, एक अनजान पुरुषके सामने उपस्थित हो, और वह यह जानती हो कि छह आदमियोंका जीवन उस आदमीकी मुट्ठीमें है, जैसे रावणने कालको अपने पलगके पायेसे बाँध रखा था, तो इस अवस्थामें वह लड़की क्या करेगी ?"

"मेरे विचारमें ···· 'मैं सोचती हूँ·······" एक दो-बार रुककर वह बोली ······"वह भयसे चीख उठेगी ?"

"ठीक कहती है तू ! कोई बडी बात नहीं कि वह लडकी बेहोश होकर उस आदमीके पैरोंमें गिर पडे।"

"यह भी सम्भव है।"

"तब फिर उस लडकीके सामने एक नहीं दो प्रश्न आ खड़े होंगे – मृत्युका भय और अपनी लज्जाके अपहरणका भय ! क्यों ठीक है न ?"

"बिलकुल।"

भारती व्यंग्यपूर्ण शब्दोंमें बोला – "जब तू एक मृतप्राय इनसानके पास इतना घबरा उठी है तो जिस हुकूमतके पास ऐसी लाखों पिस्तौलें, बन्दूकें और बम हो, उसके सामने, केवल खडी होनेके लिए नही बल्कि उसका तख्ता उलट देने, उसके दाँत खट्टे करनेके लिए यदि तुझे मैदानमे उतरना पडे तो तू क्या करेगी ?"

नरेन्द्रकी बात सुनकर सुलोचनाकी आँखे चकाचौंध हो गयी, जैसे घटाटोप अन्धकारमे अकस्मात् हजारो बत्तियाँ जल उठी हो। उसे लगा, जैसे अचानक उसमे कोई अपराजेय शक्ति उत्पन्न हो गयी है। उसके मनमे आया कि फिरसे नरेन्द्रके चरणोपर अपना माथा टेक दे, परन्तु इस दुर्बलताके लिए तो वह पहले ही डाँट-फटकार सुन चुकी थी।

कुछ देर रुककर भारती बोला – "भावुकता कोई अमानवीय वस्तु नही है, सुलोचना देवी ! वह प्रकृतिका अनोखा वरदान है। यदि इनसानमे भावुकता न हो, तो सृष्टिके नियम अस्त-व्यस्त हो जायें। माँ अपने बच्चेको दूध न पिलाये, पति-पत्नी एक-दूसरेकी ओर आँख उठाकर न देखें, यहाँतक कि इस सृष्टिके समस्त जीवधारी नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। मगर तुझे यह नही भूलना चाहिए कि भावना और कर्तव्य दो पृथक् तत्त्व हैं और हमारे जीवनमे उनका अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। इसके विपरीत यदि भावना कर्तव्यपर हाँवी हो जाये, तो कर्तव्यकी मृत्यु निश्चित है। भावनाके वशीभूत होकर बडे-बडे शूरवीर मैदान छोडकर भाग निकलते है ! परन्तु जब कर्तव्य भावनापर विजय पा लेता है, तो माताएँ अपनी सन्तानोका वध करनेसे भी नहीं हिचकतीं और पिता अपने पुत्रके गलेमें फाँसीका फन्दा डालनेके लिए विवश हो उठते है। कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्थानपर ही शोभा देती और अपने समयपर ही गुणदायक है।"

बोलते-बोलते भारतीकी साँस फूल उठी और वह अपनी नाडी देखने लगा।

उसकी घबराहट देखकर सुलोचना बोली – "नरेन्द्र, तुम्हारा अधिक बोलना ठीक नहीं !" और उसने भारतीके माथेपर अपना हाथ रख दिया, ज्वर काफी बढ गया था ।

नरेन्द्रने उत्तर दिया – "आज आवश्यकतासे अधिक बोल चुका हूँ, पर खैर, एक सुयोग्य लेडी डॉक्टरके पास होते हुए खतरेकी कोई बात नही है ।' और वह हँस पडा । सुलोचना हँसीमे उसका साथ नही दे सकी, शायद अभीतक वह नरेन्द्रकी बातोके प्रभावसे मुक्त नहीं हो पायी थी ।

• •

बंजर

० ० ० ० ०

पानीके अभावसे बंजर भूमिमे कुछ भी पैदावार नही होती और यदि होती भी है तो कँटीले झाडोके रूपमे, जिनके कांटे पथिकोके पांवोमे गडकर तलवा छेद डालते हैं। ऐसे ही कुछ बंजरनुमा व्यक्तियोकी कहानी है इस उपन्यासमे।

पहला है पण्डित बद्रीनाथ जो एक उच्च कोटिका साहित्यकार कहलाता हुआ भी वास्तवमें परले दरजेका लोभी, लम्पट और स्वार्थी है। जिसकी सारी जिन्दगी "टका धर्म टका कर्म" का मन्त्र जपते बीती है। दूसरा व्यक्ति है 'तूफान' उपनामधारी एक मनुष्य जिसके लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' है किन्तु जो छल-कपट और धोखा-धडीके बल-बूतेपर एक पत्रका सम्पादक बना है। तीसरा है एक प्रकाशक लाला भोलाराम जो निर्धन साहित्यकारोके परिश्रमसे मौज उडाता है और प्रकाशनके काममें उत्तरोत्तर तरक्की किये चला जाता है।

ये तीनो ही पात्र अपने-अपने स्वार्थके लिए आपसमे द्वन्द्व-युद्ध लड़ते चले आते है – कभी मित्रके रूपमे तो कभी शत्रुके रूपमे।

इन तीनोंके अतिरिक्त एक चौथा व्यक्ति 'दीपक' भी इस कहानीमें अपना विशेष पार्ट अदा करता है। वह वास्तवमें एक सच्चा साहित्यकार है, जिसकी साहित्यकारिताका उद्देश्य मात्र पैसा कमाना ही नही बल्कि समाजके प्रति अपने कर्तव्योका पालन करना भी है

कहानीका आरम्भ होता है पण्डितजीके उग्र रूपसे। जिस समय दीपकका

लिखा हुआ और भोलाराम-द्वारा प्रकाशित एक कहानी-संग्रह उनके हाथ आता है, उसे देखते ही वह जल-भुनकर कहने लगते हैं –

"कलके पैदा हुए ये छोकरे, साहित्यकार बनकर आ जाते हैं जिन्हें एक पक्ति लिखनेका भी शऊर नही है। और उस भोलाराम – जूतीचोरसे कोई पूछे कि इस गन्दे चिथडेको छापकर उसने क्या अक्लमन्दी की!"

पण्डितजीकी लडकी सुशीला और दीपककी बहन देवकी दोनो एक ही कॉलेजकी एक ही कक्षामे पढती हैं और गाढी सहेलियाँ भी हैं। दीपकने अपनी बहनके हाथ अपनी नव-प्रकाशित पुस्तक 'अमर भारत' भेटस्वरूप सुशीलाका भेजी। या तो पहले ही सुशीलाने दीपककी बहुत-सी कहानियाँ पत्रिकाओमे पढी थी जिसके कारण वह दीपकपर श्रद्धा-भाव रखती थी पर इस कहानी-सग्रहको पढ़कर तो वह दग ही रह गयी।

जिस समय पण्डितजीने दीपककी वह पुस्तक पढ़कर और क्रोधमे आकर एक कोनेमे पटक दी ठीक उसी समय उसकी एक प्रति हाथमें लिये सुशीला उनके सामने आ पहुँची और एक ही साँसमें दीपककी प्रशसाके पुल बाँधती चली गयी। सुनकर पण्डितजी क्रोधसे आगबबूला हो उठे। उनकी इच्छा हुई कि पुस्तककी तरह ही वे इस मूख लडकीको भी उठाकर खिडकीसे नीचे फेंक दें। पर फेंक नही पाये – वह तो उनकी लाडली पुत्री थी, फलत हृदयकी जलनको भीतर ही दबाये वे कमरेसे बाहर निकल गये और उसी दिनसे सुशीलापर रुष्ट रहने लगे। रुष्ट रहनेका कारण भी तो प्रत्यक्ष था कि उनकी पुत्री होकर वह उनके एक शत्रुकी प्रशसा किया करती थी।

पण्डितजी और भोलाराममे दीर्घ कालसे रॉयल्टी आदिके सम्बन्धमे मन-मुटाव चला आ रहा था जो बढते-बढते असहयोगकी हालत तक जा पहुँचा। फिर जब उसी भोलारामने दीपककी पुस्तक छाप डाली तो पण्डितजीके क्रोधकी सीमा नही रही। भोलारामके विरुद्ध तो वे कुछ करनेसे असमर्थ थे क्योकि अभीतक उनपर भोलारामका क़र्ज चढा हुआ

था, परन्तु दीपकको उसकी ढिठाईका मज़ा चखानेके लिए उन्होंने कई पत्रिकाओमें उसकी बहुत कड़ी आलोचना छपवा डाली।

सम्पादक 'तूफ़ान' साहब एक दिन पण्डितजीके मकान तक पधारे और सम्पादकको कुरसी सँभालनेके लिए उनसे अनुनय-विनय करने लगे। वास्तवमें उन्हे एक ऐसे सहायक सम्पादककी ज़रूरत थी जो अपनी लेखनी-द्वारा आग बरसानेमें निपुण हो। यह चमत्कार उन्हे पण्डितजीकी लेखनीमें ही दिखाई देता था, फलत पण्डितजीने 'तूफ़ान'जीके उस साम्प्रदायिकताके प्रतीक दैनिक पत्रका सम्पादन-भार सँभाल लिया और थोडे ही दिनोमे अपनी ज्वालामुखी लेखनीके बलसे उन्होने पत्रका तापमान बढा दिया। ग्राहकोकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती चली गयी और अन्तमे यहाँतक जा पहुँची कि 'तूफ़ान' साहबको अपना प्रेस खड़ा करनेकी आवश्यकता आ पडी।

दीपकको जब पता चला कि सुशीलाके पिता एक साम्प्रदायिक पत्रके सम्पादक बन गये हैं तो उसे बहुत कष्ट हुआ।

भोलारामकी इच्छा थी कि पण्डित बद्रीनाथ या तो उसके चगुलमे फँसा रहे या भूखा मरे। पर जब उसन देखा कि सम्पादक बन जानेपर पण्डितजीकी पाँचो उँगलियाँ घीमे है तो उसकी छातीपर साँप लोट गया। किस प्रकार पण्डितजीको नीचा दिखाया जाये – रात-दिन वह इसी चिन्तामे रहने लगा।

इसी बीच एक दिन जब दीपक उसकी दूकानपर पहुँचा तो भोलाराम मीठी-मीठी बातोसे उसे फुसलाता हुआ पण्डितजीके विरुद्ध भी बहुत कुछ कहता चला गया।

एक ओर यह क्रम चल रहा था और दूसरी ओर सुशीला और दीपकमे उत्तरोत्तर घनिष्ठता बढती चली जा रही थी जो अन्तत नि स्वार्थ प्रेमके बिन्दु तक जा पहुँची। जब पण्डितजीको इसका पता चला कि उनके तन-बदनसे आगकी लपटें निकलने लगीं।

इस बीच तूफानजीने प्रेस लगानेके लिए अपने प्रेमी पाठकोंसे बीस हजार रुपयेकी अपील की और फिर यह रुपया एकत्र करनेके लिए वह एक तूफानी दौरेपर चल निकले। उनके पीछे काम-काजका सारा बोझ पण्डित-जीपर था। जब उन्होंने देखा कि लक्ष्मीकी कृपासे वहाँपर चारो ओरसे धनकी वर्षा होने लगी है तो लोभका शिकार होकर इस बहती गंगामे स्नान करना आरम्भ कर दिया। जितने भी रुपये बाहरसे आते, उनका कुछ-न-कुछ भाग यह सोचते हुए जेबके हवाले कर लेते कि उस मूर्ख 'तूफान'को थोडे ही पता चलेगा कि कितना रुपया आया और कितना खर्च हुआ। पर दुर्भाग्यवश उनका यह क्रम अधिक दिनो तक नही चल सका, भण्डाफोड हो गया और उनकी गोल-मालकी पोल खुल गयी। परिणाम-स्वरूप पण्डितजीको जेलकी हवा खानी पडी।

इधर यह काण्ड हुआ, उधर सुशीलाने दीपकके गलेमे वरमाला पहनायी। एक ही समय इन दोनो घटनाओका घटना पण्डितजीके लिए कितना कष्ट-कर सिद्ध हुआ, कहनकी आवश्यकता नही है।

अन्तमे पण्डितजीकी कलुषित आत्मापर-से पापकी परतें कैसे धुली — किस प्रकार पण्डितजीने एक ओर अपने पापोका प्रायश्चित्त किया और दूसरी ओर सुशीला और दीपकको आशीर्वाद दिया इसका वर्णन अना-वश्यक है '।

० ० ० ० ०

दूसरा परिच्छेद

भोलासिहपर नजर पडते ही पण्डितजी मनमे बौखला उठे — "यह कम्बख्त आज फिर सवेरे-सवेरे आ मरा।" पर ऊपरी तौरसे उन्होने बडी गर्मजोशीसे उसका स्वागत किया — "आइए भोलासिहजी! तशरीफ़ रखिए। बडी कृपा की आज सवेरे-सवेरे!" और दिलमे कह रहे थे कि भगवान् कुशल ही करें जो इस दुष्टका मनहूस मुँह देखा।

भोलासिहने कुरसीपर बैठते हुए अपनी गरदनको खुजलाते हुए कहा – "कृपा है आपकी, पण्डितजी। यूँ ही जरा इधरसे गुजरा था। सोचा आपके दर्शन करता चलूँ।"

भोलासिहकी यह 'दर्शनाभिलाषा' पण्डितजीसे छिपी नही थी। उन्हें ज्ञात था कि गत कई महीनोसे वे उसे कुछ दे नही पाये हैं। पर उन्हे आश्चर्य था कि आज भोलासिहकी बगलमे बही-वही कुछ नही थी। इससे उन्हे लगा कि महाशयजी आज कुछ काम करानेकी इच्छा लेकर पधारे है। इस समय पण्डितजीको पैसोकी जरूरत भी बहुत थी। पर जानते थे कि भोलासिह यदि कुछ काम देगा भी तो अण्टीसे पैसे निकालने-का नाम नही लेगा और पिछले कर्जमे ही कटौती कर लेगा। इससे पहले कि पण्डितजी उससे पधारनेका कारण पूछते, कि भोलासिहने ही उनसे प्रश्न किया, "कहिए, आजकल क्या लिख रहे है ?"

पण्डितजी बोले – "क्या बताऊँ, भोलासिहजी। इतने झमेले गले आ पडे है कि सिर खुजलानेकी भी फुरसत नही मिलती। अम्बालेकी एक फर्मने अनुवादका बहुत-सा काम दे रखा है। ऊपरसे सुभाष प्रकाशन-ने एक नयी किताब लिखवानेके लिए परेशान कर रखा है। और, उधर अखबारवाले भी दम नही लेने देते। उनके खयालसे यहाँ मैंने लिखनेकी मशीन लगा रखी है। अब आप ही बताइए, एक आदमी किधर-किधर जाये और किस-किस कामको निबटाये।"

भोलासिह गहरी मित्रताकी मुद्रामे बोला – "प्रभुकी आपपर बडी कृपा है। नही तो आजके ज़मानेंमे लेखकोंकी तो कोई बात ही नहीं पूछता है।"

कुछ विचलित ढगसे वे बोले, "क्या पूछते है भोलासिहजो। यहाँ तो वही हाल है कि खाओ-पियो अपना और ढोर चराओ मेरे। लोगोकी ऐसी बुरी नीति है कि क्या बताऊँ। काम करवा लेंगे, और पैसे देनेका नाम नही।"

भोलासिंह पण्डितजीकी रग भाँपते हुए बोला – "लाख रुपयेकी बात कही आपने पण्डितजी। दुनिया बड़ी मतलबी हो गयी है। हज़ारों रुपये फँसे पड़े है। लोग हाथपर हाथ मारकर ले जाते हैं और माँगने जाओ तो आँखें माथेपर रख लेते हैं। हमारे भैयाजो – भगवान् उनका स्वर्गमें वास करे – कहा करते थे 'नेकी कर दरियामें डाल'। पर आजकल तो नेकी करनेवालेकी मिट्टी खराब है। आप यक़ीन नहीं करेंगे, इस भोला-सिंहने बड़ी-बड़ी नेकियाँ की हैं लोगोंपर और नतीजा वही कि 'नेकी बरबाद, गुनाह लाज़म'। अच्छा आज्ञा दीजिए, जाकर दूकान खोलनी है।"

पण्डितजीकी जानमें जान' आयी जब उन्होंने पाया कि पावनेदारकी बन्दूककी नली उनकी छातीसे नीचे हटनेवाली है। भोलासिंह उठकर दरवाज़े तक हो गया था कि रुककर बोला – मेरे लायक कोई सेवा हो तो कहिएगा पण्डितजी।"

"धन्यवाद। आपकी कृपा चाहिए भोलासिहजी।"

दरवाज़ेमें खड़ा-खड़ा भोलासिंह इस तरह बोल उठा जैसे उसे कोई आवश्यक बात याद हो आयी हो – "और मैंने कहा, पण्डितजी, उस दिन आप कह रहे थे न किसी लड़केकी तलाशके बारेमें। तो फिर क्या आपने देखा कोई ?"

गहरी आत्मीयतासे भोलासिंहको बातें करते देखकर पण्डितजीका न केवल क्रोध ही दूर हो गया, बल्कि उसके प्रति थोड़ा-बहुत प्रेम भी उमड़ आया। बोले – "जी हाँ, आप बैठ जाइए ज़रा। एक छोड़ कई देखे हैं लड़के। पर क्या किया जाये भोलासिंहजी। अच्छे लड़के आजकल कण्ट्रोल रेटपर नहीं, बल्कि ब्लैकमें बिकते हैं। जिन्हें खरीदना अपने बसका रोग नहीं है।"

भोलासिंह फिरसे आकर कुरसीपर डट गया, यह कहते हुए – "सच कहते हैं आप पण्डितजी। लड़केवालोंके दिमाग आजकल आस-मानपर चढ़े हैं। आपकी तरह हमारे घरमें भी यही समस्या है। 'रानी'-

को अट्ठारहवाँ वर्ष लग चुका है। यों तो लड़केवाले आगे-पीछे फिरते हैं, पर हैं सब धनके लोभी। दिलमें यही सोचते होंगे कि भोलासिंह न जाने कितनी दौलत उठाकर दहेजमें रख देगा। सोचनेकी बात है कि भोलासिंहको अगर प्रभुने दौलत दी है तो क्या उन लोगोंके घर भरनेके लिए ?"

पण्डितजी लम्बी साँस भरकर बोले – "कुछ भी समझ नहीं पा रहा हूँ, भोलासिंहजी ! दिन-रात इसी चिन्तामें घुलता रहता हूँ।"

भोलासिंह उदार भावमें बोला – "चिन्तामें घुलनेकी इसमें क्या बात है। इन कामोंमें प्रभु स्वयं सहायक होते हैं। कुछ आप यत्न कीजिएगा, कुछ मैं करूँगा। परमात्माकी कृपासे काम चल जायेगा।"

पण्डितजीको लगा – जैसे उनके सामने एक कजूस प्रकाशकके स्थानपर महादानी कर्ण आ उपस्थित हुआ हो। वे आभार प्रकट करते हुए बोले – "आपकी बड़ी मेहरबानी होगी, भोलासिंहजी ! भगवान्का और आप-जैसे मित्रोंका ही आश्रय है।

भोलासिंह पहलेसे भी बढ-चढकर बोला – "यह आप क्या कहते हैं, पण्डितजी। मेरे लिए जैसी 'रानी' तैसी 'मेनका'। सो आप इस बातकी जरा भी चिन्ता न कीजिए। अच्छा अब चलता हूँ।" कहता हुआ वह फिर उठ खड़ा हुआ और चलनेसे पहले बोला – "और हाँ, आपको तो, पण्डितजी, शायद कुछ पता होगा कि नये कोर्सोंके बारेमे बोर्डको मीटिंग कब होगी ?"

"अगले महीने। आपको भी कुछ भेजना है ?"

"सफलता हो चाहे न हो पर कोशिश करना तो अपना फर्ज है।"

"जरूर-जरूर। आपकी बाँहे काफी लम्बी हैं भोलासिंहजी। दौड़-धूप करके एक-दो किताबें तो लगवा ही लेंगे आप।"

"यह तो आप ठीक कहते है, पण्डितजी, पर इस बार मुक़ाबला जरा सख्त है। जिसके लिए बहुत बड़े दम-खमकी जरूरत है। अगर

आप भी थोडी-बहुत मदद करें फिर तो कोई बड़ी बात नही जो कामयाबी मिल जाये।"

पण्डितजीको भोलासिहके इन शब्दोंमें अपने स्वर्णमय भविष्यकी झलक दिखाई देने लगी। वे बोले – "भोलासिहजी, मै तो आपके घडेकी मछली हूँ – जब चाहो पकड लो। तो बताइए मै इस काममे क्या सहायता कर सकता हूँ।"

भोलासिह जरा और निकट आकर बोला – "सहायता मेरी नही, बल्कि आप अपनी ही करेंगे। तो ऐसा कोजिए कि एक तो उन लोगोके खिलाफ दो-चार जोरदार लेख लिखिए जो कोर्सोंको अपने बाप-दादोकी विरासत समझे बैठे है। और दूसरे सिनेटके मेम्बरोके भी जरा कान खोलने होगे, जो कोर्स लगाते समय अपने ही भाई-भतीजोकी मदद करते है।"

पण्डितजी प्रोत्साहित होकर बोले – "इन बातोको आप मुझीपर छोड दें भोलासिहजी, मेरी लेखन-शक्तिको तो आप जानते ही है। यह मेरे बायें हाथका खेल है।"

इसीलिए तो दूसरे सब लेखकोको पीछे डालकर यह काम मै आपके हवाले करना चाहता हूँ। क्या मै नही जानता कि लडकीके विवाहका मामला आपके लिए बहुत बडो चिन्ताका कारण बना हुआ है, इसके लिए आपको काफी रुपया चाहिए। सो मै आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जैसे ही किताबें कोर्समे लगी, रॉयल्टीकी रकम आपको पेशगीमे दे दूँगा। जिससे आपका सब काम चल जायेगा।"

"फिर तो मैं समझूँगा कि आप मेरे लिए भगवान्का ही अवतार धरकर आये हैं।"

"अजी छोडिए इन बातोको। यह कोई आपपर मेरा एहसान है? तो आप फटाफट किताब लिखना शुरू कर दोजिए और साथमे वह दूसरा काम भी।"

पण्डितजी आवेशसे बोले – "भोलासिंहजी, भला आपका कहना और मेरा इनकार करना ? चाहे इस समय मेरे पास अर्जेण्ट कामोंका कितना भी अम्बार लगा पड़ा है, पर आपको मित्रताके नाते मुझे उन सबको या तो लौटाना होगा या पीछे डालना होगा।"

"तो बस ठीक है, आज किसी समय दूकानपर तशरीफ ले आइएगा। किताब लिखनेके बारेमें जरूरी बातें मैं आपको समझा दूँगा।" और भोलासिंह वहाँसे बिदा हुआ।

● ●

पाषाण पंख

० ० ० ० ०

किसी इमारतकी मजबूती उसकी नीवपर आधारित रहती है। नीव यदि कमजोर होगी तो भवन-निर्माणका सारा प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा।

इस उपन्यास-द्वारा मैंने पाठकका ध्यान समाजकी उस जर्जर नीवकी ओर खीचनेका प्रयास किया है, जिसपर मजिलपर-मजिल इमारतें बनती चली जा रही हैं। अथवा यो कहिए कि एक ऐसी गाडीकी ओर, जिसका एक पहिया चालू और दूसरा जाम है। इस प्रकारकी इमारत, या ऐसी गाडीका क्या भविष्य हो सकता है ?

स्त्री और पुरुष, इन्ही दोनोसे समाजरूपी भवन निर्मित होता है। अथवा ये दो पहिये है जिनके सहारे समाजकी गाडी सन्तुलित रूपमे चल सकती है। उपन्यासके कथानकमे एक ऐसी ललना (कृष्णा) की जीवन-समस्याओका निरूपण किया गया है जिसकी गगनविहारिणी आकाक्षाएँ उसे स्वतन्त्र एव निर्मल आकाशमे उडाने भरनेको उकसाती है। परन्तु उडनेके लिए जिन हलके-फुलके पखोकी जरूरत रहती है उनके स्थानपर उसके कन्धोसे बँधे हुए है पत्थरके भारी-भरकम पख जिनके फलस्वरूप वह उडना चाहकर भी उड नही पाता है।

फिर एक समय आता है जब उसे इन पाषाण-पखोकी वास्तविकताका ज्ञान हो जाता है। उसको समझमे आता है कि यह पख प्राकृतिक नही कृत्रिम है, और जिन्हे समाजने अन्याय-पूर्वक तथा और जबर्दस्ती उसके कन्धोसे बाँध रखा है। और इसी कारण वह लोगो-द्वारा अपने पवित्र

आचरणपर लगाये लांछनोंको सहन किये चली जा रही है। फिर एक दिन वह एक ही झटकेसे इन नक़ली पंखोंको उखाड़ फेंकती है। और तब अनायास ही उसके प्राकृतिक पंख उग आते हैं। उसमे अपने नारीत्वका बल जाग उठती है। कृष्णा उन वास्तविक पखोके बलपर उड़ानें भरने लगती है। जिन उडानोके अन्तर्गत उसे अपने 'नारीत्व'का अपार बल ज्ञात होता है। उसके अन्तरसे कोई दूसरी कृष्णा पुकार उठती है – "मैं एक तुच्छ लडकी नही हूँ – मेरा अस्तित्व केवल समाजको गन्दा करनेके लिए हो नही है – मैं अपने समाजका एक अग हूँ – वह अंग, जिसे 'भारतीय नारी' कहते है – जिसे 'जननी' कहते है। मुझे कभी भूलकर भी आत्म-हत्या करनेकी बात नहीं सोचनी है – मुझे समाजके लिए जीना है – और समाजके लिए ही मरना है।"

० ० ० ० ०

अठारहवाँ परिच्छेद

वही कलवाला देवदारका तना शिब्बूके सामने था और बार-बार उसकी आँखे तनेके उसी स्थानपर जा टिकती थी जहाँपर कुल्हाडीकी डेढ़ इंच गहरी दरार थी – जिसमे-से कल उसने दो-तीन झटकोंसे अपनी कुल्हाडी निकाली थी। उसे देखकर शिब्बूके सीनेका डेढ इंच गहरा घाव रिसने लगता, यह सोचते हुए – "काश! वह हरामी कल बचकर निकल न जाता!"

उसके मस्तिष्कमे प्रश्नोकी एक लम्बी शृंखला बनती चली जा रही थी – "····बाज़ारू किस्मकी है? किसने उस सूअरके पिल्लेको ऐसी बात बतायी? शायद ·· शायद उसका मतलब किसी और लडकीसे हो····पर वह जो उसने कहा था 'कजरारी आँखें, माथेपर तिल?' – पाँच नम्बरका घर · तो क्या सच हो कलमुँही यहाँतक जा पहुँची?····सब नही तो क्या झूठ?····क्या उस रात अपनी आँखोसे नहीं देखा था मैंने····?"

आज शिब्बूका अंग-अंग शिथिल था। कुल्हाड़ी पकड़नेको उसका मन नहीं हो रहा था। बार-बार वही ग्लानि उसके तन-बदनमें आग लगाये दे रही थी – "हजार बार, लाख बार लानत है मुझे, जो अपनी बहनके पतनको देखते हुए भी जी रहा हूँ – अभीतक उस पापिनका सिर धड़से अलग नहीं कर पाया हूँ – अभीतक वह गुण्डा इसी शिमलामें जीता-जागता घूमता-फिरता है। इस बेशर्मी-भरी जिन्दगीसे तो कहीं अच्छा है कि ···" और तब उसकी नज़र घुटनेके पास पड़ी हुई रस्सीपर जा टिकी, जो थोड़े ही दिन हुए उसने खरीदी थी – पहली रस्सी घिसकर टूट जानेके कारण।

रस्सीको उसने उठाया, और उठ खड़ा हुआ। दो-एक बार उसने खींच-खाँचकर उसकी मजबूतीको जाँचा। तो बस यही ठीक है – दो-चार मिनिटके लिए लटकना कठिन नहीं होगा।

उसके कानोंने कुछ सुना, और सुनते ही उसकी नज़र सामनेवाली चट्टानपर जा ठहरी, जिधरसे आवाज आयी थी। और फिर देवदारोंके झुण्डमें-से एक स्त्री आकार निकलता उसे दिखाई दिया। आवाज़ उसीकी ओरसे आ रही थी, जो अब उसे स्पष्ट सुनाई देने लगी – "भापाजी – ई – ई!"

तीव्र गतिसे भागा वह उसी ओर। वही तो थी कृष्णा।

इधर शिब्बू चट्टानपर चढ़ रहा था, उधरसे कृष्णा भागी चली आ रही थी ऊपरसे नीचेकी ओर। जिसे देखकर शिब्बूके मनमें प्रबल कामना उठने लगी – "हे भगवान्! कितना अच्छा हो अगर इसी भागा-भागीमें डायनका पाँव फिसल जाये, और गेंदकी तरह लुढ़कता हुआ इसका शरीर निचली खड्डमें जा गिरे। पर शायद भगवान्को इस समय अवकाश नहीं था उसकी विनती सुननेका। तभी तो इतनी तेज़ भागती हुई भी कृष्णा फिसली नहीं।

"अरे सिरमुण्डी!" उसे अपने निकट पाकर शिब्बूने फटकारा – "तू

कैसे आ मरी यहाँपर ?"

शिब्बूका खयाल था कि फटकारको सुनते ही कृष्णा अपने स्वभावानुसार सिकुडकर छुई-मुई बन जायेगी। पर हुआ उसकी आशाके विपरीत, जब उसने कृष्णाका धडाकेका उत्तर सुना – "अपने पैरोंसे चलकर आयी हूँ भापाजी – किसीके कन्धोपर सवार होकर नहीं आयी।"

सकपकाकर शिब्बू सोचने लगा – "सच ही तो मरनेसे पहले चोटियोंके पंख उग आते हैं। ठीक ही कहा है कि साँपकी जब मौत आती है तो वह चौराहेपर जा बैठता है। क्या इस कुल-कलंकिनीको आज मौत ही खींचकर यहाँ ले आयी है? – क्या मौत ही आज इसके मुँहपर चढकर बोल रही है?"

क्रोधमें एडीसे लेकर चोटी तक जलता हुआ वह वहाँसे लौट पडा और फिर वही आ पहुँचा जहाँसे उठकर गया था – पीछे-पीछे कृष्णा भी चली आयी। साँपकी तरह कुण्डली मारे रस्सी उसके सामने पडी थी – कुल्हाडी भी पास ही रखी थी। कृष्णा आकर उसके दायें घुटनेके पास बैठ गयी, अपनी वही टेढी-मेढी लाठी टिकाये। रोटियोंकी गाँठ उसी लाठीके ऊपर टिकी थी।

शिब्बूने उसकी ओर ताका। उसे विश्वास था कि इन रक्तरंजित आँखोंका तेज न सहकर कृष्णाकी आँखें झुक जायेंगी। पर देखकर उसका क्रोध जितना बढा उससे भी अधिक आश्चर्य। कृष्णा निर्भीक थी। जैसे कोई असाधारण बात ही न हुई हो।

उसके मनमें उत्तेजना पैदा हुई – कृष्णाका गला घोट डालने, और फिर उसकी लाशको निचली खड्डमें फेंक देनेके लिए। पर एक उद्गार उसकी छातीसे उभरा। उसकी आँखोंकी उष्णतासे तरलता-सी घुलने लगी – आह! मेरी नन्ही कृष्णा। हे प्रभु! तू आज यह कितना घृणित काम करवाने लगा मुझसे? क्या इसीलिए अठारह वर्ष तक मैं इसे दुलारता रहा? हाय री अभागिन! तुझे अपने भाईके हाथों ही

मरना था ?"

कृष्णाकी आँखें गड़ी थी – वो धधकती हुई चिताओंपर। जिनमें ईंधनके स्थानपर उसके भाईका दिल जल रहा था, और साथ ही जल रहा था भ्रातृ-स्नेहका शव। दो जलती हुई आँखोमें-से भाईके मनोविकारो-को शत-प्रतिशत पढ़ती चली जा रही थी वह।

आज कृष्णाने बडे दुस्साहसका काम किया था। पाँच-छह घण्टे तक पहाडकी चोटियो और तराइयोको लाँघती-फाँदती वह इतनी थक गयी थी कि उसे अपने पाँव मन-मन-भर भारी जान पडने लगे थे। कई बार वह रास्ता भूली, कई बार उससे पगडण्डी छूटी थी। तेज़ धूपके मारे उसका चेहरा बनान-जैसा लाल हो गया था और साँस धौकनीकी तरह चलने लगी थी।

अन्तत नीरवता भग हुई – "खाना खाइए भापाजी।" कहती हुई कृष्णाने लाठीपर रखी हुई गठरीको उठाया, उसकी गिरह खोलने लगी। शिब्बूकी आँखें सामनेवाले उसी देवदारके तनेपर जमी थीं। उत्तर न पाकर कृष्णा उसका कन्धा झकझोरने लगी – "उधर क्या ताक रहे हैं, भापाजी ? मैने कहा – रोटी खा लो। सवेरे भूखे पेट ही घरसे निकल आये ?"

कृष्णाका करस्पर्श शिब्बूको साँपके दश-जैसा लगा। झटकेसे उसे दूर हटाता हुआ वह दहाड उठा – "दूर हो यहाँसे, मै कहता हूँ।"

वैसा ही वाक्य था जैसा कृष्णाने पहले भी एक बार शिब्बूके मुँहसे सुना था – कदाचित् उससे भी बढकर कठोर और कर्णकटु। पर आजको कृष्णा क्या उस दिनवाली कृष्णा थी ? न तो उसने झटकेकी, और न ही इस बिजली-जैसी कडकडाहटकी परवाह की। कन्धेपर-से जो हाथ हटा तो शिब्बूके हाथपर जा टिका। उसे पकडकर जोरसे हिलाती हुई कृष्णा भी तीक्ष्ण स्वरमे बोली – "भापाजी ! सुनिए ध्यानसे मेरी बात।"

चाहता हुआ भी शिब्बू अपना हाथ छुडा नही सका – छुडानेका

यत्न भी नहीं कर सका। कितना आश्चर्य हो रहा था उसे – क्या यह कृष्णाकी ही आवाज है ? इतनी तेजस्वी – इतनी निर्भीक !

"बताते क्यो नही, भापाजी" मन्त्र-मुग्धकी तरह उसे अपलक देखकर कृष्णा फिर बोली – "बताते क्यो नही ? मैं कहती हूँ यह सन्देहका जहर बहुत हो खतरनाक होता है – आपकी नस-नसको छेद डालेगा यह। बताइए, क्या हो गया है आपको ?"

छोटी बहन बोल रही थी या बेटेके ऊपर अधिकार रखनेवाली कोई माँ ! शिब्बू वैसे ही आश्चर्य-चकित आँखें फैलाये हुए था – उसी प्रकार निर्वाक् मानो दो-एक बार बिजली कौधने और कडकडानेके बाद यदि वह बिजली उसपर आ गिरी तो दम-भरमे उसके शरीरको छिन्न-भिन्न कर देगी।

उत्तरमे क्या कहे, सोच भी नही पाया था कि बिजली कहीं उसके निकटतम आकर गिरी – "जानती हूँ भापाजी कि रात-भर आप नही सोये है। पर मै भी तो नही सोयी। यह तो आपके मुँहसे सुननेपर ही जान पाऊँगी कि कल आपको क्या हो गया था। पर अबतक जो कुछ समझमे आ सका, वह यही कि आप रात-भर मुझे मार डालनेकी बातें सोचते रहे। और जिसे मार डालनेके लिए आप इतने आकुल हो उठे है, वही रात-भर आपको जिन्दा रखनेके ढग सोचती रही। इसी बातको लेकर यहाँ चली आयी हूँ। इतनी बात और भी कह दूँ कि कल चाहे कुछ भी हुआ हो, पर वह सब मुझसे ही सम्बन्ध रखनेवाला था, इसका मुझे पूरा यकीन है। बताइए, मेरा अनुमान ठीक है या गलत ?"

शिब्बू जब फिर भी टससे मस नही हुआ तो कृष्णा और उत्तेजित हो उठी – "मुझे आज जो भरकर आपसे लडना है भापाजी। बडे है तो क्या हुआ ? जानती हूँ कि आपने मुझे बेटीकी तरह पाला है। पर क्या मुझपर कलंक लगानेका भी आपको अधिकार है? फिर भी मै आपके अधिकारको खुशीसे स्वीकार कर लेती, अगर आप मुझमे कोई दोष बताते।

आज तक मेरा यही विश्वास बना रहा कि और चाहे सारी दुनियाको मेरे बारेमे ग़लतफहमी हो जाये, पर मेरे भाईको कभी नहीं हो सकती। चाहे ब्रह्मा-विष्णु ही क्यो न आकर उसे मेरे विरुद्ध भड़कायें। पर यह सब मेरा भ्रम निकला। आपके कान इतने कच्चे हैं, मैने कभी भी ऐसा नही सोचा था।" कहते-कहते कृष्णा फफक उठी।

बहुत ही कड़ी चुनौती थी यह शिब्बूके लिए। क्या वह अब इस चुनौतीको स्वीकार करे? क्या उत्तरमे कह दे कि "मैने अपनी आँखोसे जो तुझे उस रात देखा था एक बेगाने युवकके साथ। जिसे तूने मुझे देखते ही भगा दिया था।"

कुछ कठिन भी तो नही था शिब्बूके लिए इन शब्दोमे चुनौतीको स्वीकार करना। ऐसे समयमे यह आसान भी था, जब कि बेटीसे बढकर प्यारी बहन उसके कन्धेको भिगो रही थी अपने आँसुओसे? पर जो कुछ उसे कृष्णाकी आँखोमे दीखा, क्या उसकी उपेक्षा करना भी शिब्बूके बस-की बात थी?

यदि अब भी वह उत्तरमे कुछ नही कहता तो न जाने कृष्णापर इसकी क्या प्रतिक्रिया हो। ऐसा ही विचार हो आया शिब्बूको, और अनायास ही उसका हाथ घुटनेपर-से उठकर कृष्णाके सिरपर जा टिका – "बह तूने ठीक ही समझा कृष्णा। कल जो कुछ मेरे साथ हुआ, सब तेरे ही नामपर हुआ। अब कुछ छिपाऊँगा नही। सच कहता हूँ, मेरा ही धैर्य था, नहो तो अगर मेरी जगह कोई और होता तो····!"

"तो आप यही करते न!" कृष्णाने उसके मुँहसे बात छीन ली – "कि घरमे घुसते ही कृष्णाका काम तमाम कर देते? और अगर आपने ऐसा नही किया तो सच ही यह आपकी बहुत बड़ी बहादुरी है भापाजी। शायद इसका एक और सबब भी हो कि आपके ऐसा करनेसे घरमें कोलाहल मच जाता। तो मै ही इसका ढग आपको बता देती हूँ। इस वक्त बडा ही अच्छा मौका है – न कुत्ता देखे न भौंके। कुल्हाडी है ही

आपके पास। इसीसे मेरा सिर अलग करके किसी गड्ढेमें दबा देना, और धड़को खड्डमे फेंक देना। आपको किसी तरहकी परेशानी न होगी। पर मुझे आपपर जो एक रोष है, मरनेसे पहले उसे मुझे कह लेने दे। भापाजी, कानून भी तबतक किसी दोषीको फाँसीपर नही लटकाता जब-तक उसे सफ़ाईका मौक़ा न दे ले। पर अगर मुझे इतना मौका देना भी आप पसन्द नहीं करते हैं, तो जाने दें। उठाइए कुल्हाडी, और मिटाइए इस रोज़-रोज़के झंझटको।"

एक बार फिर कृष्णाकी आँखोने छलकना चाहा, पर आँखोमें पहुँचनेसे पहले ही वह आँसुओको मानो पी गयी।

शिब्बूकी आँखे धरतीपर जमी थी। इस प्रसंगको बदलनेका इरादा करता हुआ वह बोला – "ला, इधर दे रोटी – भूख लगी है।" और जब उसने हाथ बढाया तो रोटीवाली गाँठ पीछे हटाते हुए कृष्णा उसी सरोष स्वरमे बोली – "ऐसे नही मैं पीछा छोडनेवाली, भापाजी। अब जो बातोका सिलसिला शुरू हो चुका है तो इसे किसी ठिकाने पहुँचाकर ही दम लूँगी। हाँ, पहले यह तो बताइए कि कल क्या हुआ था।"

शिब्बूने टालनेका बहुत यत्न किया, पर जब कृष्णा किसी प्रकार भी नही मानी तो उससे सारी बातें उसे सुनानी ही पडीं।

"बस भापाजी?" बातोकी समाप्तिपर कृष्णाने व्यंग्यके रूपमे यह पंक्ति कह दी – "इतनी-सी ही बात थी, जिसका फसाना कर दिया? आपने जितना कुछ भी कल उस आदमीसे सुना, इसमें कोई शक नहीं कि वह सब उसने मेरे ही बारेमें कहा था। पाँच नम्बरका घर, माथेपर तिल और कजरारी आँखे यह सब मुझीपर ही तो घटता है। पर मैं समझ नही पायी कि उसे इतनी जल्दी मेरा नाम क्यों भूल गया?"

"क्या···क···क्या कहा तूने?" – शिब्बूके मुँहसे वाक्य कई टुकड़े होकर निकला।

"मेरा मतलब है" वह उसी एकाग्रतामे बोली – "कि मेरे सामने तो

वह बार-बार 'कृष्णा देवी, कृष्णा देवी' कहकर मुझे पुकारता रहा, और आपके सामने एक बार भी मेरा नाम उसकी जबानपर न आया ?"

शिब्बूकी आँखोमे-की बुझ चुकी आग फिरसे धधक उठी – "तो····तो क्या तेरे साथ····तूने····उसे वह····"

"जोशमे न आइए, भापाजी," कृष्णा फिर भी अविचलित रही – "वही सब बताने लगी हूँ। पर पहले मुझे एक दो बाते पूछ लेने दीजिए "गोल-मटोल चेहरा था न उसका ?"

"हाँ !"

"और गुण्डो-जैसी आँखे ?"

"हूँ !"

"और भापाजी, क्या वह थोडा लँगडा कर भी चलता था ?"

"अरे हाँ – हाँ। मै कहता हूँ मतलबकी बात कर।"

"बस, एक ही बात और पूछनी है। उसके माथेपर शायद दायीं या बायी आँखके थोडा ऊपर कोई जख्मका निशान भी था ?"

"हाँ ! पट्टी बँधी थी। अब आगे कह जो कुछ तुझे कहना है।"

"आगे मुझे यही कहना है भापाजी कि एक सप्ताह पहले आजके ही दिन उसकी मेरी मुलाकात हुई थी।"

"कब ? कहाँपर ? कैसे ···" एक साथ प्रश्नोकी बौछार कर डाली शिब्बूने। जिसके उत्तरमे कृष्णाने सविस्तार सुना दिया – बिना झिझकके, बिना किसी प्रकारकी बनावटके, सब-कुछ ज्योका त्यो। सुननेपर कृष्णाने देखा – शिब्बूकी आँखे धरतीपर गडी थी। घासका एक तृण तोड़कर वह दाँतोमे चबाने लगा था।

"सुन लिया सब भापाजी ?"

"····· ···"

"मैने कहा सुन लिया सब ?"

"·········"

बिन्दूके सामने बैठी हुई कृष्णा मानो सिंहनीके रूपमें बदल गयी। और फिर उसे सिंहनीकी दहाड सुनाई दी – "वही तो मैं पूछना चाहती थी भापाजी, जिसे समझनेकी कोशिशमें सारी रात गुज़ार देनेपर भी मेरे पल्ले कुछ नही पडा। पर आपकी ज़बानसे यह सब सुन लेनेपर तो गुत्थी और भी उलझ गयी है। मुझे हैरानी हो रही है इस बातकी कि एक तरफ तो आपकी इस कुल्हाडीने एक बन्दूकवालेको भगा दिया, पर वही बहादुरी दिखानेके बाद आप घर पहुँचकर इतने कायर बन गये कि सगी बहनका खून करनेका इरादा कर लिया? एक तो वैसे ही औरत-पर हाथ उठाना मर्दके लिए कायरता मानी जाती है, और फिर छोटी बहनपर?"

"उधर क्या देख रहे हैं भापाजी?" कृष्णाने फटकार बतायी – "इधर मेरी तरफ़ देखिए! मै पूछती हूँ किस बातका खतरा पैदा हो गया था आपको? यही कि कृष्णाको अगर आप जोती छोड देंगे तो न जाने कब किसके साथ भाग जायेगी, यही न?"

"कृष्णा?" हाथसे उसे चुप रहनेका संकेत करते हुए वह भरो-सी आवाजमे बोला – "अब और शर्मिन्दा मत कर। मै नहीं जानता था कि...."

भाईकी बात समाप्त होने तककी प्रतीक्षा न करते हुए वह बीचमे ही बोल उठी – "ठहरिए, पहले मेरी बात पूरी हो लेने दीजिए। माफ़ी चाहती हूँ भापाजी, कि इस वक्त मैं गुस्सेमें हूँ। कुछ नहीं समझ पा रही हूँ कि बडे भाईके सामने मुझे क्या कहना चाहिए और क्या नही। मुझे भाभीपर इतना रंज नही है। कुछ तो बेगाने इलाक़ेकी है वह, और स्वभावकी भी सख्त है। इस हालतमे अगर उसने आज तक मुझसे अच्छा बरताव नही किया, तो मैं सोचा करती हूँ – बेचारीकी अक्ल इतनी ही भर है। पर आप तो मेरे भाई थे – मेरे स्वभावसे क्या, मेरी नस-नससे वाक़िफ़। तिसपर भी आपने कभी न सोचा कि अगर मेरे बारेमें कोई

ऐसी-वैसी बात आपके कानो तक पहुँची तो एक बार मुझसे भी तो पूछ लेते ।

आप अगर भाई होकर मुझे समझ नही पाये है तो क्या मै बहन होकर भी आपको नही समझ पायी ? क्या मै नही जानती कि पिछले कई दिनोसे किस तरह आप भीतर-ही-भीतर झुलसते चले जा रहे है ? और फिर आ पडी यह एक नयी अनहोनी – उस टोपधारोकी ! रातसे मैं देख रही हूँ आपकी हालत । जिसका यही सबूत क्या कम है कि आज अभीतक आप ईंधनकी एक टहनी तक नही काट सके है ? भापाजी, आप 'महादेव' नही है जो इतना विषपान करके उसे हजम कर सकगे । आपसे भी कही ज्यादा जहर मैने अपने अन्दर पाल रखा है । तभी तो आज रोटी देनेका बहाना करके चली आयी – अपना और आपका जहर निकाल डालनेके इरादेसे । लीजिए मैने तो सब पलट दिया । अब आप भी निकाल बाहर कीजिए ।"

इतनी देरमे शिब्बूने भी कुछ-न-कुछ बल बटोर लिया था । जैसे ही कृष्णा रुकी कि वह गिडगिडानेके-से स्वरमे बोल उठा – "कोई भी तेरी बात काटने लायक नही है कृष्णा । ठीक ही मेरा शरीर जहरसे भर चुका था, भगवान् ही जाने इसका क्या नतीजा होता ? पर तूने मेरी आँखें उस वक्त आकर खोली जब मै इसी सामने पडी हुई रस्सीका फन्दा गलेमें लगाकर लटकने ही वाला था । सच मान, कृष्णा । आज तो मुझे लगता है जैसे तू रोटी लेकर नही, मेरे लिए अमृतकी कटोरी लेकर आयी है, जिसने मेरे भीतरका सब जहर नष्ट कर दिया । मैंने 'भाई' होकर तेरे साथ 'कसाई'-का-सा बरताव किया । मुझे ···मुझे कृष्णा···माफ' ···" और शिब्बूका सिर झुकते-झुकते कृष्णाकी गोदमें जा टिका ।

"अरे ! यह क्या, भापाजी !" दुपट्टेके छोरसे उसकी आँखे पोछते हुए कृष्णा भर्रायी आवाजमे बोली – "मर्द होकर आँसू ? छोडिए भी भापाजी – जाने भी दीजिए न अब । भूल भी जाइए जो कुछ हो चुका –

आपको मेरे सिरकी सौगन्ध जो एक बूँद भी आँसू गिराया।"

जहर समाप्त हो चुका था – उधरसे भी, इधरसे भी ! और जहरके स्थानपर अब दोनो हृदयोमे अमृतरूपी स्नेह छलक रहा था, वही स्नेह जो प्राणी-मात्रमे जीवनका संचार करता है।

●●

चिट्टा लहू

० ० ० ० ०

कथाका प्रारम्भ एक रूपवती नवयौवना, गुरदेवीसे होता है जिसे उसके धनलोलुप माँ-बापने पुत्रा-पौत्रोवाले एक वृद्ध और रोगी पतिके गलेमे बाँध दिया था, और विवाहके दो ही वर्ष बाद जिसकी मृत्यु हो गयी थी। विधवा हो जानेके पश्चात् गुरदेवीका पाला पड जाता है अपने सौतेले बेटोसे, जो उसपर अनेक प्रकारके लाछन लगाते हुए अन्तत एक रातको उसे मारकर मृतप्राय कर देते हैं और कुत्तेकी तरह घसीटकर उसे गाँवके बाहर एक गढेमे फेक आते है। प्रात काल वहाँसे ताँगेपर सवार एक मुसलमान औरत और उसका युवक लडका – दोनो गुजरते हुए गुरदेवाके मूच्छित शरीरको देख लेते है और दया-भावसे प्रेरित होकर वे लाग उसे उठाकर ताँगेमे डाल लेते है और अपने गाँवका ले जाते है।

वहाँ जाकर गुरदेवीकी मरहम-पट्टी की जाती है और होश आनेपर वही मुसलमान युवक उस उसके गाँवमे लाकर एक पुरोहित, पण्डित राधेश्याम-के घरपर छोड जाता है।

पण्डित राधेश्याम उस अबलाकी अवस्थासे लाभ उठाता हुआ उसे यह कहकर एक गुण्डेके पास बेच देता है कि वह एक बहुत भला आदमी है जो गुरदेवीकी हर प्रकारसे सहायता करेगा। वह गुण्डा उस अभागिनीको न जाने कहाँ-कहाँ लिये फिरता है। अन्तत सब ओरसे निराश होकर गुरदेवी उससे शादी कर लेती है।

कुछ समय बाद जब गुरदेवी प्रसव-पीडासे कराह रही होती है तो वही

गुण्डा उसे चोटी पकड़कर घरसे बाहर निकाल देता है। जूएमें सब कुछ हार जानके बाद जब उसके पास फूटी कौडी भी नहीं रह गयी है तो वह उस अभागिनीको किसी दूसरे व्यक्तिके पास बच डालनेका प्रयास करता है पर गुरदेवी इससे इनकार कर देती है। उसकी नवजात बच्चीको धाखसे उससे अलग कर दिया जाता है।

इसके बाद कुछ समय बीता। गुरदेवी 'गुरदेवी न रहकर अनवर जान' बन गयी। समय पाकर वह नृत्य और सगीतकी कलामें प्रवीण हुई तब चारो ओर अनवर जानके नामकी तूती बोलने लगी।

उधर जहाँ उसकी बच्ची फकी गयी थी एक बन्दर नचानेवाला व्यक्ति बाबा रोडू वहाँसे गुजरा और उसे उठाकर अपनी झोपडीमें ले गया जहाँ वह पितृ स्नहसे उसका लालन-पालन करन लगा। बाबा रोडूको अपनी बन्दरिया सुन्दरी ससारकी सभी चीजोंसे अधिक प्रिय थी। कदाचित् इसीलिए उसन अपनी बन्दरियाके नामपर ही बच्चीका नामकरण किया। वहीं रहकर सुन्दरी जवान हुई।

उसी गाँवम एक विवाहोत्सवपर जिस वश्याको बुलाया गया वह वश्या वास्तवम वही अनवर जान अर्थात् गुरदेवी थी। सुन्दरीके प्रमी बचन और स्वत सुन्दरीन प्राणपणसे मुजरेको रुकवानका प्रयत्न किया पर वे सफल नही हो पाय। उनके रोकत रोकत भी मुजरा हुआ और गाँव-वालोन मुजरा देखनके साथ-साथ जी भरकर शराब भी पी।

मुजरका प्रोग्राम तीन दिनका था। बचन और सुन्दरीको अपनी असफलता-पर बहुत दु ख हुआ विशषतया बचनको और सुन्दरीन जब बचनको निराशाम डूबते देखा तो न जान उसके मनम क्या सूझी कि रात होते-न-होते वह वेश्याके मकानपर जा पहुँची। बचनन बहुत रोका बहुत सम झाया कि देखो सुन्दरी तुम भेडियसे मास खानकी आदत छुडवाना चाहती हो। क्या तुम्हारे उपदेशोंको सुनकर वह वश्या नाचना बन्द कर देगी? पर उसके समझानपर भी सुन्दरी नही मानी।

हठीली सुन्दरी आधी रातके समय उस वेश्याके डेरेपर आ पहुँचती है। और बातोंके बीचमें जब उसे ज्ञात होता है कि वेश्या वस्तुत. उसीकी माँ 'गुरदेवी' है तो इस घटनाकी उसपर जो प्रतिक्रिया होती है, यह एक लम्बी और करुण कहानी है।

० ० ० ० ०

पाँचवाँ परिच्छेद

बस्ती जैसा चाहे वहाँपर कुछ नही दिखाई देता था, फिर भी यदि उसे बस्तीके नामसे पुकारा जाता था तो इसलिए कि वहाँ कुछ 'मानव' नामधारी जीव बसते थे। किसीकी झोपडी यहाँ तो किसीकी वहाँ। कही-कही दो-चार आपसमे सटी हुई भी दिखाई देती थी।

'चंगड' पजाबमे जरायमपेशा लोगोकी एक विशेष जातिको कहा जाता है। पहले किसी जमानेमे ये लोग खानाबदोशीकी हालतमे रहा करते थे और उनपर पुलिसकी निगरानी रहती थी। बादमे अँगरेज़ी राज्य-द्वारा उन लोगोको बस्तियाँ बसानेके लिए ज़मीन दे दी गयी और वे टिककर जहाँ-तहाँ बैठ गये। चोरी-चकारीकी आदत उन लोगोने लग-भग छोड दी, जिससे पुलिसकी निगरानी भी उनपर-से समाप्त कर दी गयी।

तो यह 'चगड बस्ती' भी शायद किसी ज़मानेमे उसीके अनुरूप बसायी गयी होगी। पर बादम यहाँसे बहुत सारे चगड चले गये। उनकी जगहपर पासी, चमार इत्यादि जातियोंके लोग आकर यहाँ बसने लगे। फलस्वरूप यह बस्ती मिश्रित-सो बन गयी। पर नाम इसका वही चला आ रहा है।

बस्तीके एक छोरपर 'बाबा रोड' नामक एक व्यक्तिका झोपडा है। वह किस जातिका है और कहाँसे आकर यहाँ बस गया इसके बारेमे कोई कुछ नही जानता। अटकलसे कोई उसे कुछ समझता है कोई कुछ। किसीका

अनुमान है कि बाबा रोड् किसी ऊँचे परिवारसे सम्बन्धित है और कोई उसे कलन्दर (बन्दर, रीछ नचानेवाली एक जातिका) समझता है। बाबा रोड् में कुलीन लोगो-जैसे कुछ गुण भी पाये जाते हैं। एक तो दूसरे लोगोकी अपेक्षा उसके रहन-सहनका ढग अच्छा है, दूसरा उसमें धार्मिकता-का अंश भी पाया जाता है।

बाबा रोड्का व्यक्तित्व बस्तीवालोके लिए महत्वपूर्ण है। जिस-किसीको चिट्ठी-पत्र लिखवाना या पढाना होता वह बाबा रोड्के पास भागा चला आता। और बाबा रोड् बिना माथेपर बल डाले उनका काम कर देता है। इसके अतिरिक्त एक और बातमें भी उसका महत्त्व माना जाता है कि बस्ती-भरमे केवल उसीकी झोपडीके आगे नीमके दो घने वृक्ष है, जिनकी छायामे बैठकर लोग-बाग दो घडी आराम कर लिया करते है। कभी-कभी बाबा रोड् वहाँ बैठकर बडे मजेकी बातें सुनाया करता है। कभी-कभो कथा-वार्ता और कभो पुराने ढंगका कोई किस्सा-कहानी भी जैसे—'हातमताई', 'चहार दरवेश', 'बैताल पच्चीसी' इत्यादि। जब-कभी बस्तीमे कोई लडाई-झगडा हो जाता है तो बाबा रोड्को ही पच, वकील, अथवा न्यायाधीशका कर्तव्य पूरा करना पडता है और बिना किसी स्वार्थ — बिना पक्ष-पातके। ऐसा व्यक्ति चाहे कोई भी, किसी भी जातिका, क्यो न हो, उसे आदर-सम्मान तो मिलेगा ही।

और बाबा रोड्की बन्दरिया ? वह न केवल बस्तीवालोके लिए ही एक अजूबा थी बल्कि आसपासके गाँवोवाले भी लच्छो बन्दरियासे परिचित थे। सब किसीको मालूम था कि चंगड बस्तीके उस कोनेने एक ऐसी बन्दरिया पाल रखी है जो आदमीकी ही तरह उसकी सब बातें समझती और मानती है। कभी-कभी इस बातकी सत्यताको परखनेके लिए लोग उसके यहाँ चले आते और उसकी झोपडीके आगे एक अच्छा-खासा मजमा जुट जाता।

इतना सयाना जीव बाबा रोड्ने कहाँसे पाया ? इसके बारेमें अब

भी कोई उससे पूछता तो उसका एक ही उत्तर होता – "भगवान्‌ने भेज दी है।" उसके बारेमे कई प्रकारकी किंवदन्तियाँ प्रचलित थीं। कोई कहता कि बाबा रोड़ूइसे किसी सर्कस कम्पनीसे चुरा लाया है और कोई बताता कि इसके एक कलन्दर मित्रने भेंटस्वरूप दी थी। पर अधिक लोग यही बात ही कहा करते कि बाबा रोड़ू है ही कलन्दर। नही तो भला दूसरा कोई बन्दरियाको ऐसी शिक्षा दे सकता है?

बाबा रोड़ूकी उम्र ढलने लगी थी किन्तु वह तगडे जवानो-जैसा ही अब भी था। दिन-भर उसे कुदाल या खुरपीके साथ जूझना पड़ता। फिर भी वह पूरी ईमानदारीसे अपने कामको निभाता। जहाँ दूसरे मजदूर गप-शप लडानेमे, अथवा हुक्का-तम्बाकू पीनेके बहानेसे बहुत-सा समय चुरा लेते वहाँ बाबा रोड़ू निरन्तर काममे जुटा रहता। इसीका फल था कि जहाँ दूसरे मजदूर जमीदारो किसानोके पीछे-पीछे फिरते थे वहाँ बाबा रोड़ूको घर बैठे ही बुलावेपर बुलावा चला आता। पर बाबा रोड़ू था मनका मौजी। पाँच-दस रुपये अण्टीमे जुट जाते तो फिर लाटकी परवाह नही। बुलानेवालोको टका-सा जवाब सुना देता। "भई, अपनी कौन जोरू बैठी है, जिसके लिए हाड घिसता फिरूँ। जब पैसे चुक जायेंगे तो खुद ही चला आऊँगा"

भले ही बाबा रोड़ूके जोरू-बच्चे नहीं थे, पर विधाताने लच्छो बन्दरिया-द्वारा उसके सभी अभावोको भर दिया था। जब उसे कामपर नही जाना होता तो दिन-भर या तो लच्छोके साथ दिल बहलाता या पौधे-पत्तीसे।

वस्तुत लच्छो बाबा रोड़ूके लिए मित्र, प्रेमिका, दासी और पुत्री, सभी कुछ थी। लच्छोकी क्रियाएँ और लच्छोका आज्ञापालन यही सब गुण उसकी खुशी बढानेको पर्याप्त थ। लच्छो भी तो अपने स्वामीसे कुछ कम प्रेम नही करती थी। कभी उसकी गोदीमे घुस बैठती तो कभी कन्धोपर सवार। कभी उसे गुदगुदाने लगती और कभी उसके सिरमें-से

जूएँ निकालने लग जाती। उसके आज्ञापालनका यह हाल कि जहाँपर रोड़ उसे बिठाता, बैठ जाती, जहाँ जानेको कहता, चली जाती, और जो कुछ लानेको कहता उठा लाती।

"मानव वस्तुत बन्दरकी, अथवा बन्दर-जैसे किसी पशुकी सन्तान है। 'डारविन'के इस सिद्धान्तके माननेमे भले हो किसीको आपत्ति हो, पर इतना तो मानना ही पडेगा कि दूसरे पशुओकी अपेक्षा बन्दर मानवके अधिक निकट है। उसकी आदते भी बहुत-कुछ मानवसे मिलती-जुलती है। लच्छो और बाबा रोड़के मेलने तो इस सिद्धान्तको मानो और भी पुष्ट कर दिया था। प्रकृतिके इस आश्चर्यजनक जोड-मेलको देखनेको किसका मन नही चाहता होगा ? विशेषत बालको-बालिकाओके लिए तो लच्छो एक बहुत ही मनोहर दिल-बहलाव बन चुकी थी। कोई उसके लिए रोटीका टुकडा ला रहा है तो कोई मुट्ठी-भर भुने हुए चने। फलस्वरूप बाबा राड़का लच्छोके खान-पानके बारेमे कुछ भी चिन्ता नही रखनी पडती।

कई बार वह मनमे सोचा करता—"मैने जो इस भुतनीसे इतना मोह बढा रखा है सो आखिर क्यो ? भगवान् न करें, अगर इसे कोई चुराकर ले जाये या यह मर जाये, नही तो फिर मेरा क्या हाल होगा ? दूसरे लोगाको तो मोह-मायासे बचनेका मै उपदेश दिया करता हूँ, पर मेरी अपनी यह हालत है कि थोडी देरके लिए भी जो यह ससुरी आँखोसे ओझल हो जाती है तो पागल-सा हो उठता हूँ।'

ऐसे ही एक दिन बाबा रोड़ बस्तीवाले एक व्यक्तिके साथ उलझ पडा जब किसीने उसे इतनी-सी बात कह दी – "अगर मेरी बात मानो तो इस बन्दरियाको किसी सकसवालेके हाथ बेच दो। अपनी क़सम, खूब अच्छ दाम पा जाओगे।" और बाबा रोड़ यह कहते हुए उसके गले ही तो पड गया –'ज़बान सँभालकर बोल रे। आ गया बडा सलाह देनेवाला। लच्छोके बदलेमे अगर कोई मुझे हीरा-मोती भी तोलकर दे दे तो मै उसपर थूकनेका नही।"

सहसा एक दिन बस्तीमें एक नयी चरचा सुनाई देने लगी। दिन चढ़ते जिस किसीने सुना कि बाबा रोड़ू एक नवजात बच्चेको कहींसे उठा लाया है, तो सब कोई भागे चले आये बाबा रोड़ूकी झोपड़ीकी ओर। तब देखते-ही-देखते नीमके पेड़ो तले भीड़ लग गयी। सबने देखा एक नवजात शिशुको गोदमें लिये और दूधमें रूईका फाहा भिगो-भिगोकर वह उसे चुसा रहा है। खूब गोरा-चिट्टा शिशु था — जैसे हाथीदांतका खिलौना।

फिर क्या था? प्रश्नोंकी बौछारें होने लगी बाबा रोड़ूपर "इसे कहाँसे पाया रे, बाबा रोड़ू.........लड़का है या लड़की इसकी माँ कहाँ है '?" और बाबा रोड़ू अपने काम करते हुए बताये चला जा रहा था, "भगवान्की देन है भाई। न जाने किस पापी या पापिनका काम है। शामको जब लौटा आ रहा था तो रास्तेमे सुनाई दिया, जैसे बगलवाली झाड़ीमें कोई बच्चा रो रहा है। जाकर जो देखा तो हक्का-बक्का ही रह गया। कपडेमे लिपटी हुई यह बच्ची एक घनी झाडी तले पडी थी और एक ही साँससे रोये चली जा रही थी। हाथ लगाकर जो देखा तो शरीर बर्फ़-जैसा ठण्डा और रंग एकदम नीला पड़ गया था। तब बिना आगा-पीछा देखे मैंने इसे उठा लिया। खतरा था कि घर पहुँचनेसे पहले ही बेचारी दम न तोड दे। पर कुदरतको शायद इसे जिन्दा रखना मजूर था। यहाँ आकर दूधका इन्तजाम करना पडा, जो बस्तीमें एक बकरीवालेसे मिल गया। दूध-पीते ही बच्ची मज़ेमे सो गयी और सवेरे उठते ही फिर चीखने-चिल्लाने लगी। थोडा-सा दूध बचा पडा था। जैसे ही पेटमें पडा कि रोना भूल गयी। देखो न, मरी कैसे पुतलियाँ घुमा-घुमाकर ताक रही है।"

प्रश्न-कर्त्ताओमे-से एक बोल उठा — "तुमने बडे परोपकारका काम किया। नही तो क्या जाने अबतक बेचारीको गीदड-कुत्ते ही खा गये होते। पर इस बातका खतरा है कि कही पुलिस आकर तुम्हे परेशान न करे।"

बाबा रोड् भी तो क़ायदे-क़ानूनसे अनजान नहीं था। पर वह इस समय मानवताके उस शिखरपर पहुँच चुका था जहाँ पहुँचनेपर मनुष्यके लिए इन बातोंका कुछ महत्त्व नही रह जाता है। उत्तरमें वह निर्विकार भावसे बोला – "पुलिस ?–पुलिसका डर तो मुझे तब हो जो मैं इसे कहीं-से चुराकर लाया होऊँ। भगवान्‌की कृपासे मिली है, और भगवान् अब भी चाहे तो इसे लौटा ले सकते हैं। मुझे उसका हाथ थोड़े ही पकड़ना है।"

● ●

पुनर्मिलन

० ० ० ० ०

उपन्यासका कलेवर जितना छोटा है उसी अनुपातसे इसकी कहानी भी संक्षिप्त, और वह भी पत्रशैलीमे है। कथानककी गाडी दो युवतियो – 'सुमन' और 'कान्ता' के सहारे चलती है। इन दोनो युवतियोको 'दो नायिकाएँ' समझ लीजिए चाहे एक (सुमन) को नायिका और दूसरी (कान्ता) को नायक ! लडकी है तो फिर क्या है। क्या लडकियाँ, लडको-जैसे काम नही कर सकती ?

दोनो बचपनकी सहेलियाँ है। एक साथ खेली है और एक ही साथ पढ़ी भी। स्कूल छोडनेके बाद सुमनको तो दुर्भाग्यने 'विवाह' के बहाने उन परस्थितियोमे जकड लिया जिनमें पडकर वह दम तोडने-जैसी हालतमे जीवनके दिन व्यतीत करने लगी, और कान्ताने कॉलेजमे प्रवेश किया। समय पाकर कान्ताके लिए भी वे क्षण आ पहुँचे जब कि किशोरियाँ कौमार्य और सोहागके सन्धि-स्थलपर अपनेको खडा पाती है। एक ओर तो कान्ताके हृदयमे वैवाहिक जीवनकी उमंगे अँगडाइयाँ लेने लगी, और दूसरी ओर गृहस्थ-जीवनकी भयानकताएँ – जिन्हे वह कई घरोमे देख चुकी थी। इसी मानसिक संघर्षमे सहसा उसे अपने बचपनकी सहेली 'सुमन' की याद हो आयी। सुमन एक तो उम्रमे उससे बडी, दूसरे विवाहित। यो भी सुमनके बुद्धि और चातुर्यका वह लोहा मानती रही। उसकी धारणा थी कि सुमन अपनी ससुरालमे जाकर सुख-चैनकी वशी बजा रही होगी। तो फिर वह क्यो न इस मामलेमे उसीका परामर्श

ले। अत उसने उसे इस प्रसगपर एक लम्बा पत्र लिखा। और अब उत्तरमें उसे जो कुछ पढनेको मिलता है इसकी प्रतिक्रिया-रूपमें वह एडीसे लेकर चोटी तक चमक उठती है। तत्पश्चात् दोनो सहेलियोमे पत्राके आदान-प्रदानका एक लम्बा सिलसिला जारी हो जाता है। उन्ही पत्रोका सग्रह है यह उपन्यास।

o o o o o

चौथा परिच्छेद

प्रकाश भवन, कांगडा

दुष्टा कान्ती,

नही जानती थी कि इस अभागिनपर व्यग्य कसनमे तुझे इतना आनन्द मिलेगा। कलमुँही! मैन जो अपने दिलके घाव तेरे सामने नगे किये, तो क्या इसलिए कि तू उनमे उँगलियाँ चुभो दे? उनपर नमक छिडक? आज तुझे इतना गव हो गया अपने बडप्पन और अपनी शिक्षा-का जा दूसरोको दम तोडती देखकर तुझे मजाक सूझता है! मन तो नही होता कि उत्तर दूँ, पर नही रोक पायी अपनेको।

तून खूब जी-भरकर कोसा न मुझे? मनमाने ढगसे मेरे रिसते घावो-पर खराश लगायी? अर गुरुआइन, क्या मै नन्ही-सी बालिका थी, जो तू चली मुझे उपदेश देन? क्या तू वही कान्ती नही है, जो मुझसे पूछे बिना पाँव नही उठाती थी? पर क्या न हो, आखिर कॉलेजिएट – प्रोफेसरकी बहन जो ठहरी। तभी तो सुरखाबक पर लग गये न आज तुझे।

मै पूछती हूँ, यदि मेरी जगहपर तू होती, और तेरे साथ वही बीतता जो मेरे साथ बीत रहा है, तो उस दशामे तू क्या करती? सच ही कहा है कि 'जिसके पैर न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर परायी।

और तूने मेरी करुण-कथाका शेष भाग सुननेकी इच्छा प्रकट की है। तो सुनाती हूँ, और यही सोचकर कि जब मुझे इस संसारसे चली ही जाना है तो मनकी व्यथा किसीको तो बताकर ही जाऊँ।

तुझे उस दिनकी याद है न, जिस दिन मैंने चोरीसे लाकर एक चीज़ तुझे दिखायी थी? और जिसे देखकर तूने कहा था, "सुमन! फ़ोटो देखकर तो लगता है जैसे किसीने सिने-अभिनेता चन्द्रमोहनकी तसवीर उतारकर भेज दी हो। उसी प्रकारकी नीली-बड़ी आँखें ··· ···" और न जाने क्या-क्या बक गयी थी तू। फिर तूने कहा था, "सुमन! बधाई हो इस सुन्दर वरकी। दुश्मन-दूतोंकी नज़रोंसे बचाकर रखना इसे।" और उत्तरमें मैंने क्या कहा था? मैंने कहा था, "भगवान् करे, हृदय भी इतना ही सुन्दर हो!"

कितना सुख था तेरे उन कटाक्षोंमें! कितने स्वर्गोंका आनन्द था मेरी उस कल्पनामें! मेरे अन्त करणसे एक ही कामना उठती – हे प्रभु! मेरे सुहागको अटल बनाये रखना! पर कितनी दुर्बल नींव थी इस महलकी – कुल साठ-सत्तर दिन। इसके पश्चात् रेतकी यह नींव बैठने लगी, और देखते ही-देखते मेरा वह सारा भवन धम्मसे धरतीपर आ पड़ा।

ससुराल आनेपर कुछ तो मुझे काँगड़ा-घाटीकी छविने और कुछ अपने पतिकी सुन्दरताने मोह लिया। विशेषत प्रथम रात्रिके पतिके उस वार्तालापने, उसके विनम्र शब्दोंने, उनके उमड़ते हुए प्यारने मेरी आत्माको वशीभूत कर लिया। मैं मुग्ध हो उठी, आनन्दविभोर होकर उनके क़दमोंपर बिछ गयी।

अब आगेकी बात सुन। सदाकी भाँति एक सुहाने प्रभातके समय मैं अपनी सहेलियोंके साथ सैरको निकली। प्रकृति भी मेरी तरह दुल्हन बनकर इठलाती दिखाई देती थी। 'गुप्त गंगा' के चश्मोंमें लड़कियोंके साथ नहायी, खेली और उनकी ठिठोलियोंके पुष्प-बाणोंको अपने दिलकी ढाल-पर झेल-झेलकर आनन्दमग्न होती रही, अपने भाग्यकी सराहती रही।

हरी-भरी ओस-भींगी दूबपर जितने कदम चलती, मानो धरतीका उतना भाग सोना बनता जा रहा था।

'गुप्त गंगा' मे नहाकर जब हम सब लौट रही थीं, और जब वे सब मुझे भेंट देनेके लिए इधर-उधरसे जंगली फूलोके गुच्छे एकत्र कर रही थीं तो सहसा पीछेसे आकर किसीने मेरे हाथमें कुछ थमाते हुए कहा, "अलग होकर पढ़ना।" जब मैने पीछे मुडकर देखा तो उस लडकीकी पीठ मेरी ओर थी; और वह दौडकर झाड़ियोंमे खो गयी। मै समझ न पायी कि वह कौन थी। मेरे हाथमे मुडा हुआ छोटा-सा कागज था। मैने शीघ्रतासे झाडियोकी ओटमें जाकर उसे खोला और पढने लगी। लिखा था: "साँपके कोमल शरीरको देखकर दूर रहना। उसे उठाकर गलेमे डालना मृत्युका आलिंगन करना है।"

इतना ही उस कागज़पर लिखा था। कितनी ही देर तक खडी सोचती रही, पर समझमे कुछ न आया। उस समय देवकीनन्दन खत्रीके उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' की मुझे याद आ गयी, जिसमे इसी प्रकारकी तिलिस्मी घटनाओके बारेमें कभी पढ़ा था।

सारे दिन मेरे दिलको आग-सी लगी रही। कहीं यह मेरे पतिके सम्बन्धमे ही न हो! कहीं इसमे कोई सचाई न हो! फिर सारा दोष उस ईर्ष्यालु रॉंडपर थोपने लगी। दिन अत्यन्त व्यग्रतामे बीता। उसी शाम सहसा एक लड़की मेरे पास आ बैठी। उसका नाक-नक्श सुन्दर, रंग-रूप निखरा और बातचीतका ढंग मोहक था। उम्र रही होगी कोई पन्द्रह-सोलहकी। पहनावेसे कुमारी जान पडती थी। वास्तविक पर्वतीय सौन्दर्य जिसे कहते हैं, उसीकी प्रतीक थी वह। नाम था 'इन्द्रा'। एडोसे लेकर चोटी तक सौन्दर्यकी प्रतिमा।

वह कुछ देर तो इधर-उधरकी बातें करती रही, और फिर जब मुझे अकेली पाया तो कहने लगी, "बहनजी, सबेरे वह रुक्का मैने ही आपको दिया था।"

सुनते ही मै जल-भुन उठी। मैने उससे पूछा, "किस मतलबसे दिया था वह ?"

और उस युवतीने आदिसे लेकर अन्त तक उस कागजका इतिहास मुझे सुना दिया। सुननेसे पहले मेरे दिलमे उसके प्रति जितनी घृणा थी वह दया और सहानुभूतिमे बदल गयी।

वृत्तान्त बहुत लम्बा था जिसका साराश यही था कि हमारे पडोसमे वे दोनो बहनें रहती थी – 'मोहिनी' और 'इन्द्रा'। मोहिनी विधवा थी और इन्द्रा कुमारी। मोहिनीके साथ मेरे पतिदेव न जान कबसे प्रेमकी पैगें बढाते चले आ रहे थे, जिसका परिणाम वही हुआ जो प्राय हुआ करता है – गर्भ रह गया मोहिनी बेचारीके।

कान्ता, तुझे विश्वास नही हो पायेगा। इन्द्रा-द्वारा उसकी बहनका वृत्तान्त सुनकर मेरी नस-नसमे अपने धूर्त पतिके प्रति घृणाकी आग धधक उठी। इन्द्राने और भी बहुत-कुछ बताया। जिसका भाव था कि मेरे 'सर्वस्व' महाशय अब मोहिनीका गर्भपात करानेकी फिक्रमें है, पर मोहिनी इससे सहमत नही है। इन्द्राने यह भी बताया कि इस मनोरथसे 'श्रीमान्-जी' ने उसे कई प्रकारकी दवाएँ भी दी है, पर सफलता नही मिली। अन्तत पतिदेवन जब देखा कि मोहिनी दिन-प्रतिदिन उनके लिए भावी खतरेका कारण बनती जा रही है तो उन्हे एक और काण्ड रचनेकी सूझी, अर्थात् मोहिनीको समाप्त कर देनेकी। इस कामके लिए श्रीमान्जीने एक बुढियाको तैयार किया, जो उसे धोखेसे ज़हर दे दे। बुढिया पहले तो लाभमे आकर मान गयी, पर, बादमे शायद उसका नारी-मन इसे सहन नही कर पाया और उसन सारी बात मोहिनीको बता दी।

इन्द्रा अभी और भी बहुत कुछ बताना चाहती थी, पर मैंने उसे रोक दिया। एक बार मोहिनीसे मिलनेके लिए और उसीके मुँहसे सारा हाल सुननेको मै व्याकुल हो उठी। मैने उससे कहा, "इन्द्रा, मै तेरी बहनसे मिलना चाहती हूँ, क्या तू उसे बुला लायेगी ?" वह आँखोमे

आँसू-भरे बोली, "बहनजी, उस बेचारीने तो बहुत दिनोसे बाहर निकलना ही बन्द कर रखा है। वह बीमारीका बहाना बनाकर भीतर लेटी रहती है। अगर आप कहे तो मै किसी समय आपको ही उसके पास ले चलूँगी।" और उसके दूसरे ही दिन मौका पाकर इन्द्रा मुझे अपने घर ले गयी।

मुझे कमरेमें पहुँचाकर वह बाहर निकल गयी, शायद चौकसीके लिए या हम दोनोको स्वच्छन्दतापूर्वक बातें करनेका अवसर देनेके लिए।

मेरी 'नमस्ते' के उत्तरमे केवल 'नम·····' ही मोहिनीके होठोसे निकल पाया। थोडी देर तक हम दोना गुमसुम बैठी रही। दोनाको ही बात चलानेकी राह नही मिल रही थी। उसका चेहरा सन्तापकी मूर्ति बना हुआ था, वह रो रही थी। कान्ती, सच कहती हूँ, उस समय मोहिनीके दुखमे खोकर मै अपना दुख भूल गयी।

थोडी देर बाद, जब रो-रोकर उसका मन कुछ हलका हुआ, तो मैने अपने और उसके आँसू पोछती हुई उससे कहा – "मै इन्द्रासे सब सुन चुकी हूँ। अभागिन, तूने इतना तो सोचा होता कि इसका परिणाम क्या होगा?"

मोहिनीकी आँखे बह रही थी – निराश और शून्य आँखे, जिनमे-से उसकी निर्दोषिता साफ पढी जा सकती थी। वह मुझपर दृष्टि गडाये देखती रही, देखती रही। मैने उसे झकझोरा। अन्तत उसने मुझे अपना हाल आरम्भसे लेकर अन्त तक सुनाया। कान्ती, तू काँप उठेगी मेरे पतिके कारनामे सुनकर, जिस मै देवता समझकर पूज रही थी।

कितनी दयनीय दशा थी मोहिनीकी। माँ मर चुकी थी और बाप बेचारा नेत्रहीन था। घरमे बस दो बहनें थी और था वही अन्धा, जो ससारके उतार-चढावसे नितान्त अनजान, घरके एक कोनेमें पडा रहता था। मोहिनीका भाई पठानकोटकी किसी मोटर कम्पनीमे नौकर था, जो कदाचित् ही घर आता था।

सारी कथा मोहिनी-द्वारा सुनकर मेरी क्या दशा हुई होगी, कान्ती, तू इसका अनुमान नहीं लगा सकेगी। अन्तमें वह सिसकती हुई बोली, "बहनजी, मेरे दिलसे पूछकर कोई नहीं देखता। मैं क्या कर सकती हूँ। उसके सामने जबान खोलनेका साहस ही मुझमें नहीं रहा है। मैं बिलकुल उसकी मुट्ठीमें हूँ।"

"पर क्यों ?" – मैंने मोहिनीसे पूछा।

वह बोली, "मेरी और मेरे खानदानकी इज्जत, मेरी जान, सभी कुछ तो उसके हाथमें है!"

"पर इस प्रकार घरमें आग लगी होनेपर तू कब तक उसमें छिपी रह सकेगी ? आखिर तो यह भेद खुलकर ही रहेगा।"

वह बोली, "नहीं, वहाँतक नौबत नहीं आने दूँगी। मैं अबतक कभी-की मर चुकी होती। यह देखें...." कहते हुए मोहिनीने एक रूमाल अपने सिरहानेके नीचेसे निकाला, जिसके छोरमें कुछ बँधा हुआ था। खोलकर उसने मुझे दिखाया। यह कोई पहाड़ी बूटी थी – बड़ा ही खतरनाक विष। उसने बताया, "मुझे अगर इन्द्राकी चिन्ता न होती तो अबतक जीवनसे छुटकारा पा लिया होता पर मेरा यह भी तो उद्देश्य पूरा नहीं हो पाया है।"

"क्या ?" मैंने मोहिनीसे पूछा।

वह बोली, "मैं उसकी छाया भी इन्द्रापर पड़ने नहीं देना चाहती। आखिर मैंने सोचा, अगर वह इन्द्रासे विवाह ही कर ले तो मेरी तरह उस बेचारीकी भी मिट्टी खराब होनेसे तो यह अच्छा ही रहेगा। पर यह काम भी तो सिरे न चढ़ सका, जब उसका विवाह, बहनजी, आपके साथ हो गया...."

मोहिनीने विस्तारसे बताया कि अब इन्द्रापर मेरे पतिकी नजरें गड़ी हुई है, और उसके साथ विवाह करनेकी बात भी उसने किसी हद तक स्वीकार कर ली थी, और मोहिनी इसी आशापर जी रही थी। उसने सोचा था

कि इन्द्राका विवाह होते ही वह विष खाकर मर जायेगी। पर वह भी तो न हो सका, जब कि श्रीमान्‌जीकी शादी मुझसे तय हो गयी। मेरे पतिने मोहिनीको यह चकमा दिया कि सुमनके साथ विवाह करनेका उसका कोई इरादा नहीं है, पर क्योंकि उसके मायकेवालोंसे हजारों रुपयेका दहेज मिलनेकी उसे आशा है, इसलिए यह मोटा शिकार वह छोड नहीं सकता। यहाँतक भी उसने उसे कह दिया कि नयी दुल्हनको, अर्थात् मुझे, वह विवाहके कुछ दिनो बाद किसी-न-किसी ढगसे मृत्युके हवाले कर देगा और फिर सुविधासे इन्द्राके साथ विवाह कर लेगा। इस प्रकार उसे दहेजमे मिला हुआ धन बच जायेगा। पर पतिदेवका विवाह हो जानेके पश्चात् मोहिनी उसकी चालोको समझ गयी। और इसीलिए वह पुरजा उसने मुझे भेजा था।

मोहिनी फिर कहने लगी, "पहले तो मै इस आशापर जी रही थी कि इन्द्राका ठिकाना करके जाऊँ, पर अब मुझे विश्वास हो चुका है कि न मैं इन्द्राको बचा सकती हूँ और न मेरे लिए ही दुनियामें कोई स्थान है। तो अब इस बातका मैने निश्चय कर लिया है कि यह बूटी स्वयं भी पी लूँगी और इन्द्राको भी किसी खाने-पीनेकी चोजमें मिलाकर दे दूँगी। यह काम अबतक हो ही जाना था, केवल अपने भाईकी प्रतीक्षामें हूँ। दो-चार दिनोमे वह आनेवाला है। मैं चाहती हूँ कि हम दोनोकी लाशोको ठिकाने लगानेवाला तो घरमे कोई हो। और तुम्हें यह जो पुरजा मैने इन्द्राके हाथ भेजा था, उसका मतलब यही था कि तुम्हे सचेत करके जाऊँ जिससे कही तुम भी मेरी तरह अपनी जान न गँवा बैठना।"

मै पागल-सी हो उठी, कान्ती, उसकी बातें सुनकर। उस अभागिनके लिए मेरा हृदय दया, स्नेह और सहानुभूतिसे छलक उठा। मैंने उसके गलेसे लिपटकर कहा, "नही, नहीं, यह कभी नही हो सकता। मोहिनी! मै तुझे मरने नही दूँगी, न ही इन्द्राको। अगर मरनेकी ही नौबत आयेगी तो हम तीनोकी एक ही चिता बनेगी, इस बातका विश्वास रख।"

उसके बाद बडी खीचातानी, बडी बहस और बहुत-सी बातें हुईं। अन्तत जब मैं उसके पाससे उठी तो वह विषवाली पोटली मेरी मुट्ठीमें थी। मैने मोहिनीसे प्रण ले लिया कि वह ऐसी कोई हरकत नही करेगी। उसी क्षणसे हम तीनो बहने थी – मै, मोहिनी और इन्द्रा।

लौटनेसे पहले मोहिनीने मुझे एक रहस्य बताया कि मेरे पतिके हाथमें उसके कुछेक पत्र है, जिनके बूतेपर वे महाशय यदा-कदा उसपर मनमानी किया करते है। मोहिनीका आग्रह था कि मै उन पत्रोको किसी प्रकार जला दूँ। पत्र कहाँपर रखे है ? यह भी उसने मुझे बता दिया।

अच्छा, अब बन्द करती हूँ इस कथाको। बाकी फिर सही।

अपनी बातोमे खोकर मैने तेरी मँगनीके बारेमे तो कुछ पूछा ही नही। उसके बारेमे तुझे सब लिखना होगा। पर एक बात कहती हूँ कान्ती, भगवान्के लिए इस काममे जल्दबाज़ी मत करना। यह मार्ग कितना कठिन है, कितना खतरनाक है, इसके एक नही, दो-तीन उदाहरण तो मेरे सामने ही उपस्थित है। वैसे मुझे तेरी उच्च शिक्षा और तीक्ष्ण बुद्धिपर विश्वास है कि तू इस अनदेखे प्यालेको छानकर ही पियेगी, फिर भी सचेत करती हूँ कि हर चमकनवाली वस्तु स्वर्ण नही होती। अच्छा होता कि जरा ब्योरेसे मुझे इस सम्बन्धमे लिख देती, कि मामला कहाँतक पहुँचा। मेरा अभिप्राय है कि मानसिक तौरपर तू इसके सम्बन्धमे क्या-कुछ अनुभव करती है। आशा करती हूँ कि अपने पत्रमे तू विस्तारसे इसपर प्रकाश डालेगी। क्षमा चाहती हूँ, कान्ती, कि पत्रके आरम्भमे मै तुझे बहुत-सी कडवी-कसैली बातें लिख गयी हूँ। मेरे मस्तिष्कका सन्तुलन कुछ बिगड चुका है। घडीमे तोला, घडीमे माशा हो जाती हूँ। अत मेरी बातापर नाराज़ मत होना, मेरी अच्छी सजनी! मै नाराज़ी नही, दयाके योग्य हूँ।

● ●

ताशकी आदत

"रहीमे"

शेख अब्दुलकरीम सब-इन्सपेक्टरने घरमे प्रवेश करते हुए अपने नौकर-को पुकारा, "बशीरको जरा भेजना तो मेरे कमरेमे।" और फिर वह भारी बूटोंसे खट्-खट् शब्द करते हुए अपने कमरेमे जा पहुँचे! बेल्ट और खाकी कोट उतारकर उन्होने खूँटीपर टाँग दिये, फिर मेजपर बैठ गये।

मेजपर बहुत-कुछ पडा था – एक सिरेपर कागजोसे भरी हुई मोटी-मोटी फाइले, उसके पास 'मजमुआ ताजीराते हिन्द'का एक पुराना संस्करण, जिसकी जिल्द उखडी थी। बीचमे कलमदान, पेपर-वेट, पिन-कुशन, ब्लाटिंग, टैगोका एक मुट्ठा और ऐसी ही दूसरी चीजे करीनेसे रखी हुई थी। मेजके दूसरे सिरेपर खुले कागजोका एक पुलिन्दा जिसमे जमानत, मुचलके, सम्मन, वारण्ट आदिके छपे हुए फॉर्म रखे थे। और एक बडे रोजनामचेपर आजकी डाकसे आये हुए कुछ पत्र।

कुरसीपर बैठते ही शेख साहबने लॉग साइटका चश्मा उतारकर मेजपर रख दिया और शार्ट साइटका चश्मा जेबसे निकालकर आँखोपर चढाया। फिर वे आजकी डाक देखनेमें व्यस्त हो गये।

अभी दो-तीन चिट्ठियाँ ही पढ पाये थे कि पाँच-छह वर्षका एक गठीला बालक उनके सामने आकर खडा हो गया। बालक देखनेमे खूब चुस्त-चालाक था, पर बापके सामने आते ही वह भीगी बिल्ली-सा बन गया।

"बैठ जा कुरसीपर" एक खाकी कागजपर आँखें गडाये उन्होंने हुक्म दिया और बशीर डरता-डरता कुरसीपर बैठ गया। कागजसे ध्यान हटाकर वे बशीरको ओर घूरते हुए बोले, "सुना है, आज तूने ताश खेली थी, क्या यह सच है ?"

'नहीं तो, अब्बाजान" – बालकने डरते-डरते उत्तर दिया।

"झूठ मत, बोल" – शेख साहब जरा रोबमे आकर बोले – "अगर सच-सच बतायेगा तो मै तुझे कुछ नही कहूँगा।"

बालकने फिर वही उत्तर दिया – "नही, अब्बाजान !"

अब शेख साहब अपने स्वाभाविक ढगसे, जिस प्रकार वे मुजरिमोसे इकबाल करवाते थे, बोले – 'मैंने तुझे खुद देखा है, ताश खेलते हुए ! क्या मामदीनके घरमे तू उसके लडकेके साथ ताश नही खेल रहा था ?"

इस बार बालकने मुँहसे तो कुछ नही कहा पर सिर हिलाकर उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया ?

"शाबाश" – शेख साहबने हाथ बढाकर उसकी पीठ थपथपायी। "मै बडा खुश हूँ, कि तूने जल्दी ही अपने जुर्मका इकबाल कर लिया ! देख बेटा, आज मै तुझे कुछ बहुत जरूरी नसीहतें देना चाहता हूँ। खूब गौरसे सुनना, मेरी बाते। सुन रहा है न।"

"हाँ, अब्बाजान" – लडकेने ऐनक उठाकर, उसको साइडोको ऊपर-नीचे हिलाते हुए कहा।

"छोड दे इसे" – उसके हाथसे ऐनक छीनते हुए शेखसाहबने घुडकी दी – "इधर ध्यान कर, मेरी बातोकी तरफ।"

बशीर सचेत होकर बैठ गया।

एक फाइलसे वारण्टोंके कुछ कागज निकालते हुए शेखसाहब कहते जा रहे थे - "तुझे मालूम होना चाहिए, बशीर, कि एक जुर्म दूसरे जुर्मका पेशखेमा होता है, और इसकी जिन्दा मिशाल यही है कि एक तो तूने ताश खेलनेका जुर्म किया। फिर, उस जुर्मको छिपानेके लिए तुझे

झूठ बोलना पड़ा, मानो अब तू एकके बजाय दो जुर्मोंका अपराधी हो गया।''

वारण्टका मजमून पढ़ लेनेके बाद उसे फिरसे फाइलमें घुसेड़ते हुए, जब शेख साहबने बशीरकी ओर देखा तो वह पिन-कुशनसे एक पिन निकालकर टेबल-क्लॉथमें चुभो रहा था।

"यह क्या कर रहा है, शैतान ?" – पिन उसके हाथसे छीनते हुए और पिन-कुशनको अपनी ओर सरकाते हुए वह बोले – "सुन रहा है मेरी बातें ? मेरा मतलब है कि ताश खेलना भी एक किस्मका जुआ होता है, जुआ। यानी यही आदत बढ़ती-बढ़ती जुवारीपन तक आ पहुँचती है, और फिर वहींतक सीमित न रहकर इनसानको चोर, डाकू, बदमाश और क़ातिल तक बना देती है, जैसे, खरबूजेको देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है।"

खरबूजेका नाम सुनते ही बशीरने सिर उठाया और साथ ही उसने अपनी नाक कुछ इस तरहसे फुलायी मानो उसे खरबूजेकी खुशबू आने लगी हो – जैसे उसके बापने कोई खरबूजा हाथमें ले रखा हो।

"सुन रहा है न मेरी बातें ?" शेख साहब कहते चले जा रहे थे – "मेरा मतलब है कि···" वह इतना ही कह पाये थे कि टेलेफोनकी घण्टी बज उठी और रिसीवर उठाकर उन्होंने कानसे लगा लिया – "हैलो ! कहाँसे बोल रहे हैं आप····अच्छा, पुरुषोत्तम दास साहब है···· आदाब अर्ज····कहिए, क्या हालचाल है····क्या कहा, लॉटरीकी टिकिटें ? जी हाँ वे तो पहुँच गयी हैं····पाँच टिकिटोंके पचास रुपये····अच्छा, थोडी देरमें भेजे दे रहा हूँ। पर दोस्त, कभी निकली तो है नहीं हमारी लॉटरी ····आप ठीक कहते हैं, न जाने कबतक जागेगी यह क़िस्मत····अच्छा जी आदाब अर्ज"

रिसीवर रखकर उन्होंने बशीरको ओर देखा। वह क़लमदानके इंक पॉटमें उँगली डुबो-डुबोकर एक काग़ज़पर घोड़ेकी तसवीर बनानेमें व्यस्त था।

"दुत्! गधा कहींका" – कागज़ उसके हाथसे छीनते हुए और कलमदानको अपनी ओर सरकाते हुए वह नाराज़ होकर बोले – "यह क्या बदतमीज़ी है? मैं कह रहा था" – एक दूसरी फाइलका फीता खोलते हुए वे कहने लगे – "मैं तुझे नसीहत दे रहा था कि ताश खेलना बहुत बडा जुर्म है।" और फिर इसी विषयपर वह पाँच-सात मिनिट तक बोलते चले गये। साथ-साथ अपना काम भी करते रहे और जब बशीरकी ओर उनकी आँखें उठीं, तो क्या देखते हैं कि पेपरवेटसे गेंदका काम लेते हुए वह उसे हाथमें उछाल रहा है।

"अबे, गिरकर टूट जायेगा, कम्बख़्त" – बच्चेसे पेपरवेट छीनकर वे बोले – "मैं कहता हूँ गौरसे सुन मेरी बात! तुझे मालूम होना चाहिए कि कई किस्मके जुआरियों, उठाईगीरों और बदमाशोंसे हमारा पाला पडता रहता है। इसलिए मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि ये सभी बुराइयाँ ताश खेलनेसे पैदा होती हैं। अगर कानूनका डण्डा लोगोंके सिरपर न हो तो वे लोग जाने क्या कयामत बरपा कर दें।" और फिर, मेज़पर पडी हुई ताजीराते-हिन्दकी ओर बशीरका ध्यान दिलाते हुए वह कुछ कहने ही वाले थे कि उन्होंने देखा कि लाल स्याहीवाली कलम मुँहमें डालनेसे बशीरके होठ एकदम लाल हो उठे हैं।

"नामाकूल! पाजी!!" कलम उसके हाथसे छीनते हुए उन्होंने फटकारा – "तुझे मैंने इसीलिए यहा बुलाया है, सूअर? ध्यानसे सुन मेरी बातें, नही तो वह झापड दूगा कि याद रखेगा" – और कहते-कहते वे कुछ जरूरी कागजोंपर हस्ताक्षर करने लगे – "तुझे मालूम है सरकारें हमें इतनी बडी-बडी तनखाहे और पेन्शन क्यो देती है, महज़ इसलिए, कि हम लोग मुल्कसे जुर्म और मुजरिमोंका खात्मा करें। पर, अगर हमारे ही घरोंमें ताश और जुएका दौर चलने लगे तो वही होगी कि·····'चुँ कुफ्र अज़ काबा बरखेज़द कुजा मानिद मुसलमानी' मेरा मतलब यह है कि अगर हम अपने घरको ही इन जरायमसे पाक नही कर सकें' तो ··"

वह इतना ही कह पाये थे कि लम्बे क़दका एक युवक वहाँ आ पहुँचा। बाँहपर लगे हुए बिल्लेसे हवलदार मालूम होता था! हवलदारके अतिरिक्त वह शेख साहबका एजेण्ट भी था। उसे देखकर शेख साहबने पूछा, "क्या बात है मिर्जा?

"जनाब वे लोग कबसे बैठे इन्तज़ार कर रहे हैं!"

"कौन?"

"वही बुग्धीमलके एजेण्ट।"

"क्या कहते हैं वे?"

"जनाब, ये दशहरेके मेलेमें 'डायस' लगाना चाहते हैं"

"पर इस कामके लिए उन्हें मेरे पास आनेकी क्या ज़रूरत थी? तुम खुद ही निपटारा कर लेते उन लोगोंसे।"

"जनाब, मैंने तो कह दिया था उनसे कि शेख साहब तीन सौसे कम नहीं लेंगे पर वे कहते हैं कि हम खुद शेख साहबकी खिदमतमें हाज़िर होकर अर्ज़ करेंगे। सो मेरा खयाल है कि अगर आप दो-एक मिनिटकी फ़ुरसत निकालकर तशरीफ़ ले चलें तो अच्छा हो। शायद उन्हें जनाबसे कुछ और भी कामकी बातें करनी हैं।"

"अच्छा, चलो, मैं अभी आया!"

हवलदार सलाम करके बाहर चला गया। शेख साहब उठे। खूँटियों-पर-से बेल्ट और कोट उतारकर पहनते हुए वह बशीरसे कहने लगे— "अच्छा! अब जा, आराम कर, बाकी नसीहतें तुझे शामको दूँगा।"

बशीरकी जानमें जान आयी। वह कुरसीसे उठ खड़ा हुआ, एकाध जँभाई ली और फिर टिपक-टिपक चलते हुए कमरेसे बाहर निकल गया!

• •

पापका फल

पात्र—जगमोहन : कहानी लेखक, विमला : जगमोहनकी पत्नी, तिवारी : सम्पादक, लाला किशोरीलाल : कागज व्यवसायी, अमरनाथ : कागजको दलाल, दो अन्य व्यापारी तथा एक बालक ।

[मंचपर दो कमरे साथ-साथ दिखाये जाने चाहिए, जिनके बीचकी दीवारका दरवाज़ा दोनों ओर खुलता हो । एक कमरेमें छोटी चारपाई-पर दो-ढाई वर्षका रोगी बालक पड़ा है और छब्बीस-सत्ताईस वर्षकी एक युवती विमला (उसकी माँ) रद्दी काग़ज़ काट-काटकर लिफ़ाफ़े बना रही है । उसकी दायीं ओर लेईकी पतीली पड़ी है और बायीं ओर रिमों-से उतरे हुए कुछ फटे-पुराने बेठन रखे हैं ।

दूसरे कमरेमें तीस-बत्तीस वर्षकी आयुका जगमोहन एक मेज़के सामने बैठा लिखनेमें व्यस्त है । और विमला अपना काम छोड़कर उसके सामने आ पहुँचती है ।]

विमला : [कुछ घबराये और खीझे स्वरमें] मै कहती हूँ कि आप इस मुई कॉपीका पीछा छोडेगे भी या नही - उधर नन्हेकी हालत बिगडती जा रही है और आपको पडी है कलम घिसनेकी ।

जगमोहन : [लेखपर-से ध्यान हटाते हुए] बस, थोडा ही काम बाकी है, वह एडीटर अभी सिरपर आ धमकेगा और मै चाहता हूँ कि उसके आनेसे पहले-पहले कहानी····।

विमला : [बात काटकर] भाड़में जायें एडीटर और तुम्हारी कहानी। उधर नन्हें आँख तक नहीं खोल रहा है। उठिए, डॉक्टरके पास जाइए।

जगमोहन : अरी भाग्यवती ! नन्हेकी क्या तुझसे मुझे कम फ़िक्र है ? पर दवा-दारूके लिए जेबमें भी तो कुछ होना चाहिए। अगर ज्यादा नही तो दस रुपये तो जरूर ही मिल जायेंगे इस कहानीके। [दरवाज़ेमें-से दूसरे कमरेमें झाँकते हुए] और यह तूने क्या कचरा फैला रखा है, विमला ?

विमला वही जो आप फटे हुए कागज़ लाये थे न, मैंने सोचा कि उन्हें काट-छाँटकर सौ-पचास लिफाफे ही बना लूँ – चार-छह आने तो मिल ही जायेंगे।

जगमोहन : तू भी बिलकुल फूहड है। अरे, वह तो मै इसलि‸ ले आया था कि लिखनेके लिए कुछ कागज़ निकल आयेंगे।

विमला : यह भी अच्छी कही। भला उस कूडे-कचरेमें-से लिखनेके कागज़ कहाँसे निकलेंगे ? मै कहती हूँ लालासे पाँच-छह दस्ते कागज क्यो नही ले आते ? कागजका इतना बडा सौदागर है, क्या अपने मुनीमको लिखनेके लिए कागज़ भी नही देगा ?

जगमोहन : [फीकी हँसी हँसता हुआ] पगली ! क्या तेरे ख़यालमे बाटा शू कम्पनीके सब मज़दूर नये जूते पहनते है ?

[दरवाज़ा खटखटानेकी आवाज़ सुनाई देती है।]

जगमोहन : [चिन्तातुर स्वरमें] ले, आ पहुँचा वह यमदूत [आवाज़ देता है] आ जाइए, तिवारी साहब, तशरीफ लाइए।

विमला : [दबे स्वरमें] यमदूत होगा अपने घरवालोका।

[**विमलाका प्रस्थान और सम्पादकका प्रवेश** ।]

जगमोहन : [**खड़े होकर**] आइए, तिवारी साहब । कहिए क्या हाल-चाल है ?

तिवारी . [**बैठते हुए**] आपकी कृपा है । हाँ ! कहानी हो गयी पूरी ? [**कॉपी उठाकर इसके पन्ने पलटने लगता है** ।]

जगमोहन . बस, पूरी ही समझिए । एकाध घण्टेकी देर है । लड़केकी बीमारीने पिछले कई दिनोसे परेशानीमे डाल रखा है । बस, आप चलिए और मै इसे पूरी करके लिये चला आ रहा हूँ ।

तिवारी : तब तो बडी मुश्किल बात है । उधर नववर्षांक लगभग तैयार हो चुका है । अगर घण्टे-भरमे नही मिली तो फिर इस अंकमे नही जा सकेगी ! [**शीर्षकपर आँखें गड़ाये हुए**] और यह शीर्षक क्या रखा आपने । पूँजीवाद ? अरे बाबा । क्यो हमें बाँधते हो और खुद भी मुसीबतमे फँसते हो ? यहाँ अँगरेज़ोका राज है, लेनिन, स्टालिनका नही । और फिर आप भी तो पूँजीपतिकी ही नौकरी कर रहे है । इस तरह जलमें रहकर मगरसे बैर मोल लेना कहाँकी अक्लमन्दी है ? हाँ ! तो कृपा करके एक तो इसका शीर्षक बदल डालिए और दूसरे कहानीका प्लाट भी दो-चार जगहोसे बदलना होगा । अच्छा, तो मै चलता हूँ । जरा जल्दीसे पहुँचा देना नही तो धरी-धराई रह जायेगी ।

[तिवारीका प्रस्थान और विमलाका प्रवेश ।]

विमला · [**पतिको लिखे हुए पन्ने फाड़ते देखकर**] अरे, यह क्या करने लगे ? इन्हे फाड़ क्यो डाला ?

जगमोहन : [उसी तरह फाड़ते हुए] यह कामकी चीज नही है, बेकार है, बकवास है।

विमला : अच्छा तो अब उठकर पहले डॉक्टरके पास जाइए। मैं कहती हूँ नन्हेंकी हालत आज मुझे अच्छी नही दिखाई दे रही है। न आँखें खोलता है और न दूध पीता है। पत्थर-जैसा पडा हुआ है।

जगमोहन : [नि:श्वास लेता हुआ उठता है] ला, शीशी दे मुझे। पर पहले मुझे लालाकी दूकानपर जाना पडेगा।

विमला भगवान्के लिए जल्दी लौटना, देर मत करना।

[विमला शीशी लाकर उसे देती है और जगमोहन बायीं ओरसे, जिधरसे सम्पादक गया था, बाहर निकल जाता है। विमला दूसरे कमरेमें लौट आती है और बेंच-पर झुक जाती है।]

विमला : [भर्राये स्वरमें] बन्नी, मेरे लाल! क्यो आज आँख नही खोलता। आज दूध भी नही लिया—अम्मीको प्यार भी नही किया। तू तो दिन चढे ही दूध माँगा करता था। आज ···आज क्या हो गया मेरे लाल··· ···[गला रुँध जाता है।]

[परदा]

दूसरा दृश्य

[लाला किशोरीलाल पेपर मर्चेण्ट्सकी दूकान। अधेड़ उमरके तोंदधारी लाला मेज़पर झुके हुए हैं। सामनेवाली

कुरसीपर एक व्यापारी बैठा है। और पिछली दीवारसे सटा दुबककर खड़ा जगमोहन दिखाई देता है]

व्यापारी : [परमिटका फॉर्म लालाकी ओर बढ़ाते हुए] अब मेरा काम भी कर दीजिए लालाजी, बहुत देरसे बैठा हूँ।

लाला . [परमिटको देखते हुए] कितना कोटा है आपका····ऐं, दो सौ पचास पौण्ड ?

व्यापारी . जी, हाँ।

लाला : किस साइजका कागज़ चाहिए आपको ?

व्यापारी : बीस, तीस साइज़का लालाजी।

लाला · बीस ···ती··· स का तो·· ···इस लाटमें एक शीट भी नही आया है। अलबत्ता अगर फुलस्केपकी जरूरत हो तो ···आप ले सकते हैं।

व्यापारी . वह तो कापियाँ बनानेके काम आता है, लालाजी, पर हमे तो प्रिण्टिंगके लिए चाहिए! हमारी स्टेशनरीकी दूकान तो है नही।

लाला : यह तो बाबू साहब आप खुद ही सोच लीजिए। हमारे पास जो भी माल है हम देनेको तैयार हैं।

व्यापारी . यह तो बडी मुश्किलकी बात है लालाजी। चार महीनेके बाद कही बारी आयी और····वह भी···।

लाला · [बात काटकर] बहस करनेसे क्या फायदा, बाबू साहब! कह तो दिया हमारे स्टाकमे बीस-तीसका एक शीट भी नही है।

व्यापारी : [कुछ सोचनेके बाद] अच्छा, तो मै दूकानपर जाकर ज़रा पूछ आऊँ।

लाला : हाँ, हाँ, पूछ आइए, पर जरा जल्दी। आप तो जानते ही हैं कि सरकारी क़ानूनके मुताबिक स्टाक होते हुए हम किसी····परमिट होल्डरको इनकार नही कर सकते। आपके बाद अगर कोई दूसरा आ गया तो हम ज़िम्मेवार न होंगे! [कहते हुए वह सामने लगी हुई घड़ीकी ओर ध्यानसे देखते हैं।]

व्यापारी : [उठते हुए] मैं अभी लौटकर आया।

[व्यापारीके जाते ही जगमोहन दीवारको छोड़कर आगे बढ़ता है।]

जगमोहन : [हाथ जोड़कर विनीत स्वरमें] लालाजी! मैं बहुत देरसे खड़ा हूँ।

लाला : [क्रोधमें] क्या कहना है तुम्हें ?

जगमोहन : [गिड़गिड़ाकर] जी····मेरा लड़का सख्त बीमार है। इसीलिए मैं····मैं कामपर भी नहीं आ सका था। मुझे···· दवा-दारू के लिए···कुछ·······!

लाला : [व्यंग्यात्मक स्वरमें] क्या कहा? बहुत अच्छे·· बहुत अच्छे। तो अब जनाब लगे चार सौ बीसी करने। और जरूरत भी क्या थी कामपर आनेकी···तुम हमारे मुनीम नही बल्कि हम तुम्हारे मुनीम हैं।

जगमोहन : [घबराकर] मैंने आपका मतलब नही समझा, लालाजी।

लाला : [उसी व्यंग्यमें] अजी, काहेको समझेंगे आप मतलब! मतलब समझानेके लिए तो·····[एक सिक्ख व्यापारी प्रवेश करता है, जिसे देखकर जगमोहन फिर पीछे हट जाता है।]

व्यापारी : [परमिटका काग़ज़ बढ़ाते हुए] लीजिए लालाजी ! ज़रा जल्दी निकलवा दीजिए कागज़। इस बार तो पूरे पाँच महीने इन्तज़ार करना पड़ा आपके मालका।

लाला : [परमिटको देखते हुए] कितना कोटा है···आपका, तीन···तीन सौ दस पौण्ड ?

व्यापारी . जी, हाँ !

लाला : कौन साइज चाहिए।

व्यापारी · फुलस्केप, लालाजी।

लाला : फुलस्केप ! वह तो इस लाटमे एक शीट भी नही आया है, सरदारजी। अलबत्ता अगर बीस-तीसका चाहे तो ले सकते हैं।

व्यापारी : [हताश होकर] पर लालाजी, हमे तो कापियोके लिए चाहिए। हमे किताबें थोडे ही छापनी है। आप जानते हैं कि हमारी स्टेशनरीकी दूकान है।

लाला . [खिसियाने स्वरमें] सरदारजी ! हम तो वही माल दे सकते है जो हमारे पास हाज़िर है ! यहाँपर मिल तो खोल नही रखी है कि मन-चाहा साइज बना लेगे।
[कहते-कहते वे फिर घड़ीकी ओर देखते हैं जैसे किसीकी प्रतीक्षामें व्याकुल हों।]

व्यापारी · यह तो बडी मुसीबतकी बात है लालाजी। इतने महीने बाद बारी आयी और वह भी जैसे आयी वैसे गयी।

लाला . [पिण्ड छुड़ानेके अभिप्रायसे] बहस करनेसे क्या फ़ायदा सरदारजी ! कह तो दिया कि जो कुछ हमारे पास है बड़ी खुशीसे ले जाइए।

व्यापारी : [उठते हुए] अच्छा – तो मैं थोड़ी देरमें आकर आपको बताता हूँ।

लाला : पर ज़रा जल्दी बताइए, ऐसा न हो कि पीछेसे कोई दूसरी परमिट आ जाये। स्टॉक बिलकुल थोड़ा रह गया है।

[व्यापारीका प्रस्थान, जगमोहन आगे बढ़ता है।]

जगमोहन : अच्छा लालाजी ! अब मेरी बिनती भी सुन लीजिए।

लाला : [खिसियाकर] अरे बाबा क्यों सिरपर चढ़ता आ रहा है। किसीसे बात तो कर लेने दिया कर।

[उसी पहले व्यापारीका प्रवेश, जिसे देखकर जगमोहन निराश-सा फिर पीछे हट जाता है।]

व्यापारी . अच्छा तो वही फुलस्केप दे दीजिए, लालाजी। इस बार हम इसी साइज़पर किताब छपवा लेंगे। लाचारी है करें भी तो क्या ?

लाला : [जैसे उसकी मूर्खतापर कटाक्ष कर रहा हो] वाह, बाबू साहब ! आपने भी कमाल ही कर दिया।

व्यापारी : क्या हुआ, लालाजी ?

लाला ' अरे भले आदमी ! होना क्या था। उधर आप दूकानसे निकले और इधर एक दूसरा परमिटवाला आ धमका। अब इनकार थोड़े ही हो सकता था – स्टाकके होते हुए। माफ करना, अब तो आपको दूसरे लाटका इन्तज़ार करना पड़ेगा।

व्यापारी : [सिर धुनते हुए] वाह री क़िस्मत ! अच्छा तो······· दूसरा लाट कबतक आनेवाला है।

लाला : कुछ पक्की बात नहीं कह सकता। आ जाये तो····दो-चार

ही दिनोंमें आ जायेगा और नहीं तो····हफ्तों भी लग सकते हैं। [और वे फिर घड़ीकी ओर देखने लग जाते हैं।]

व्यापारी [जाते हुए हाथ जोड़कर] अच्छा, लालाजी अगली बार जरूर कृपा कीजिएगा।

लाला फिकर न कीजिए, स्टाक आने-भरकी देर है सबसे पहले आपको इत्तला दी जायेगी।

व्यापारी शुक्रिया। [प्रस्थान]

[जगमोहन फिर आगे बढ़ आता है]

जगमोहन [हाथ जोड़कर रूआँसे स्वरमें] लालाजी····मेरी अर्ज।

लाला . [बात काटकर] तेरी अर्ज़ पीछे सुनूँगा। पहले मेरी अर्ज़ सुन। मुझे यह बता कि तूने अपना ही राज समझ रखा है जो हफ्ते-भरसे शक्ल नहीं दिखलायी। मैं पूछता हूँ यह नौकरी है या नवाबी ?

जगमोहन . [उसी तरह हाथ जोड़ कुछ काँपते स्वरमें] जी ··मैं··· छोटे लालाजीसे कह गया था कि बच्चेकी बीमारीकी वजहसे कुछ दिन कामपर नहीं आ सकूँगा। फिर भी इस भूलके लिए माफी चाहता हूँ। ईश्वर जानता है··· लालाजी····बड़ी मुसीबतमें हूँ। बच्चेकी हालत·······।

लाला · [उपेक्षासे बात काटकर] खैर! इस बातको छोड। तुझे नौकरियोंकी कमी नहीं और हमें मुनीमोंकी कमी नहीं है। पर मैं एक और बात पूछता हूँ कि यह चोरी है या सीनाजोरी [कहते-कहते उनकी नज़र फिर घड़ीपर जा टिकती है।]

जगमोहन : [स्तब्ध होकर] चोरी ! कब मैंने चोरी की लालाजी ?

लाला : [कड़े स्वरमें] अजी आप काहेको चोरी करेंगे। गोदाम-मे-से बेठनोके गट्ठे बाँध-बाँधकर ले जाना चोरी थोडी-ही कहलाती है।

जगमोहन : [अकचकाकर] बेठनोके गट्ठे ! ओह ! तो आप उन्हीं बेठनोकी बात कर रहे है, लालाजी, पर यह बात तो आप भंगीसे पूछ सकते हैं। गोदामको बुहारनेके बाद वहाँसे बेठनोका कुछ कूड़ा-कचरा उठाकर वह टोकरेमें भरकर ले चला था तो मैने यह कहकर उससे ले लिया कि काट-छाँटकर उसमें-से लिखनेके लिए कुछ स्लिपें बना लूँगा। यही है, जिसे आप चोरी कह ले या कुछ भी कह लें।

लाला : अरे बाबा ! इन चिकनी-चुपडी बातोसे तू मुझे छल नही सकता। यह बाल मैंने धूपमें नही पकाये हैं। अभी तो सिर्फ़ बेठनोकी ही बात खुली है, अब यह तो जाँच-पडताल करनेपर ही मालूम पडेगा कि जनाबने काग़ज़के कितने रिमोपर हाथ साफ किया है।

जगमोहन [उत्तेजित होकर] माफ करना लालाजी। आप मुझसे इन्साफ नही कर रहे है। मै और चाहे कुछ भी हूँ पर चोर बिलकुल नही हूँ। भूखसे तंग आकर आपकी जूठन भले ही खालूँ पर आपकी गन्दगी नही खा सकता।

[तभी वह सिक्ख व्यापारी फिरसे आ पहुँचता है। जगमोहन फिर पीछे हट जाता है।]

व्यापारी : [कुरसीपर बैठते हुए] अच्छा, तो फिर वे ही बीस-तीस-

का दे दीजिए। उनमें-से ही तीन-तीन इंचकी पट्टी काटकर हम फुलस्केप साइज़ बना लेंगे। अब दूकानदारी तो करनी ही है!

लाला : वाह! सरदारजी, वाह। आपने भी तो बच्चोंका-सा काम किया। मैंने कहा नहीं था कि स्टाक बिलकुल कम रह गया है और परमिट होल्डर ताँता बाँधे चले आ रहे हैं।

व्यापारी [घबराकर] क्या मतलब ?

लाला : अजी मतलब और क्या ? उधर आप दूकानसे उतरे और इधर परमिटवाले सिरपर सवार। यह तो आप जानते ही हैं कि स्टाकके होते हुए इनकार करना जुर्म है। जितने भी बचे-खुचे रिम थे उठवाकर चलते बने। सो अब तो आपको अगले लाटका ही इन्तज़ार करना पड़ेगा। [लालाजी फिर घड़ीकी ओर नज़र उठाते हैं।]

व्यापारी : [हाथ मलते हुए] वाह 'किस्मत देया बलिया, रिद्धी खीर ते हो गया दलिया।' अच्छा तो नया स्टाक आनेकी कबतक उम्मीद है, लालाजी ?

लाला : फिकर न कीजिए जल्दी ही आनेवाला है, और आपको सबसे पहले इत्तला दी जायेगी!

व्यापारी : आपकी बड़ी कृपा है लालाजी! हमारी तरफ ज़रूर खयाल रखना।

[व्यापारीका प्रस्थान और अमरनाथ दलालका प्रवेश, जिसे देखते ही लालाजीकी आँखें खिल उठती हैं और साथ ही वह जगमोहनको बुलाते हैं।]

लाला : [नम्र और मीठे स्वरमें] अच्छा मुनीमजी, आप जरा बाहर जाकर ठहरिए। थोड़ी देरके लिए। मैं अभी आपको बुलाये लेता हूँ।

जगमोहन : बहुत अच्छा, जी। [प्रस्थान]

लाला : [उल्लाहसे खड़े होकर] आइए, आइए, अमरनाथ साहब। आपका इन्तज़ार करते-करते तो बूढ़ा ही हो गया। बहुत विलम्बसे आना हुआ। वहाँ नहीं इधर के आइए कुरसी !

दलाल : [कुरसी सरकाकर लालाकी बग़लमें बैठते हुए] माफ़ करना – घरसे तो ठीक समयपर निकला था, पर बाज़ारमें ही कुछ ऐसा काम पड गया जिससे घण्टे आध घण्टेकी देर हो गयी।

लाला : अच्छा, पहले यह बताइए कि आपके लिए क्या मँगवाऊँ ?

दलाल : इस वक्त तो किसी चीज़की इच्छा नहीं है लालाजी, खा-पीकर ही घरसे चला हूँ। अच्छा, ज़रा जल्दी है। काम-काजकी बातें हो जाये। मेरे पास समय बहुत कम है !

लाला : तो सुनाइए, कहाँतक पहुँचे ?

दलाल : [कुरसी और निकट सरकाकर] ज़रा धीमेसे बात कीजिए। आप जानते हैं कि आजकल····

लाला : अजी लाटकी परवाह मत कीजिए। यहाँ सारे शहरकी पुलिस अपनी मुट्ठीमें है !

दलाल : सो तो आप ठीक ही फ़रमाते हैं फिर भी विचारवानोंका कहना है कि 'दुनिया खाओ मकरसे और रोटी खाओ शक्करसे' अच्छा, बात यह है लालाजी ! आसामी तो तैयार कर लिया है। अब भाव-तावका मामला निबट जाना चाहिए।

लाला : भाव-तावका मामला तो हमारा आपका निबटा ही हुआ

है। यह तो आप जानते ही हैं कि कागजकी कितनी कमी है आजकल। खैर। यहाँ तो घरको बात है। हाँ! तो कितने रिमकी बात तै की आपने ?

दलाल : फिलहाल चार सौ रिमका ग्राहक है, दो सौ फुलस्केप और दो सौ बीस-तीस।

लाला : [आश्चर्यसे] अरे ! कुल चार सौ ही !

दलाल : नहीं, इतना ही क्यों ? कल-परसों तक कुछ और असामियोंको भी घेरूँगा। हाँ, तो भाव क्या-क्या कहा ?

लाला : अजी आपको तो सब मालूम ही है। पिछला लाट आपने एक रुपया पाँच आने पौण्डके हिसाबसे उठवाया था न, पर आजकल तो' ' आप जानते ही है कि कागज कहीं फाहा लगानेको भी नहीं मिलता। पर''''आपसे सिर्फ तीन आने पौण्ड ज्यादा लूँगा।

दलाल : गोया डेढ़ रुपये पौण्डके हिसाबसे ! ऊँ हूँ। इतनी तेज़ी मत दिखाइए, लालाजी ! नौ आने पौण्डके हिसाबसे तो मिल सप्लाई करती है आपको। और ऊपरसे तीन रुपये सैंकड़ा कमीशन अलग। यानी एकदम धर्मके तिगुने। ऐसा नहीं लालाजी ! वही पहलेका भाव ही चलने दीजिए !

लाला : राम राम कहो जी। कहीं सरसों जितने पेठे भी हो सकते हैं।

दलाल अच्छा चलिए। न आपकी बात और न मेरी। एक रुपया छह आनेपर मामला पक्का करिए। अब बात नहीं, वरना मैं दूकानसे उतर जाऊँगा।

लाला . अरे यार ! आप तो बड़े ज़बरदस्त हैं। अच्छा ले जाइए। आपका कहना और मेरा न मानना। यह कैसे हो सकता है ?

दलाल : [नोटोंका बण्डल बढ़ाते हुए] यह अभी एक हज़ार तो लीजिए। आप चलकर गोदाम खुलवाइए और मैं व्यापारी-को लेकर चुटकी बजाता हुआ यूँ पहुँचा।

लाला : [नोट गिनते हुए] बहुत अच्छा। पर देखना, जरा जल्दी। मुझे और भी काम निबटाने हैं।

दलाल बस, आया ही समझो। आप गोदाम खुलवाइए। मैं छकडोका प्रबन्ध भी करता आऊँगा !

[जाता है, जगमोहन फिर आ जाता है।]

लाला . [जगमोहनकी ओर देखते हुए] अच्छा, अब तुम बताओ कि तुम्हारी क्या मरजी है ! यदि मान-प्रतिष्ठाका विचार है तो सच-सच बताना। तुम जानते ही हो – मुझे किसीपर अन्याय करके, खुशी नही होगी। अगर तुम सच बतला-दोगे तो मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगा। बताओ कितने रिम आजतक ले जा चुके हो ?

जगमोहन · लालाजी, आप मुझपर झूठा दोष लगा रहे हैं। मुझे अपने बेटेकी सौगन्ध यदि मैंने उन पाँच साल बेठनोसे अधिक···

लाला . [क्रोधसे] चुप रह। एक पापको छिपानेके लिए दूसरा पाप ! इस प्रकारकी झूठी सौगन्धें खानेवालोंका जानता है क्या हाल होता है ? उन्हें कीडे पडते हैं कीडे !

जगमोहन लालाजी ! ईश्वरके लिए मुझपर यह जुल्म न ढायें। मैं बिलकुल बेकसूर हूँ।

लाला : [मुँह चिढ़ाकर] बिलकुल जी····बल्कि दूधका धोया हुआ कहिए। बच्चू याद रखो, बेईमानी करके कभी किसी-का पेट नही भरता। 'धर्म छोड धन कोई खाय'। चाहिए तो यही था कि बडे घरकी सैर कराता तुझे पर क्या करूँ धर्म-कर्म करनेवाला हूँ, किसीको बुराई मुझसे नही हो

सकती। जा···परमात्मा खुद ही तुझे तेरे पापका फल देगा।

जगमोहन : [करुणापूर्ण स्वरसे] लालाजी ! ईश्वर जानता है—मैं बिलकुल बेकसूर हूँ। मुझपर यह बहुत भारी अन्याय····

लाला : अरे जा बाबा, यह आँखें टपका-टपकाकर मुझे मत दिखा। मैंने बहुत दुनिया देखी है। जा, अपना रास्ता नाप।

[एक लड़का भागा-भागा, दूकानमें घुस आता है और जगमोहनका कन्धा झकझोरता है।]

लड़का : मोहनजी, मोहनजी, जल्दी घर चलिए। नन्हा गुज़र गया।

जगमोहन : [एकदम घबराहटमें पागल-सा होकर] ऐ ! नन्हा गुज़र गया····नन्हा चल बसा।

लड़का : मैं बड़ी देरसे आपको ढूँढता फिर रहा हूँ। आपको घरपर बुलाया है।

लाला : [लड़केकी बातें सुनकर उसे सम्बोधन करते हुए] क्या कहा, छोकरे, लड़का गुज़र गया इसका ? [थोड़ा रुककर और एक लम्बी साँस छोड़कर] सच कहा है। यह कलि-युग नहीं, कर-युग है ! यहाँ पापका फल हाथों-हाथ मिलता है !

[जगमोहन जड़वत् खड़ा-खड़ा एकदम बोल उठता है—]

जगमोहन पापका फल···· [ऊँची आवाज़में] पापका फल [दोनों हाथोंसे अपनी कमीज़का गला फाड़ते हुए] पापका फल ···[दोनों हाथोंसे सिरके बाल नोचते हुए]····पापका फल···[हाथकी शीशी फ़र्शपर पटककर दूकानसे निकल भागता है और यह आवाज़ नेपथ्यमें देर तक गूँजती रहती है] पापका फल····पापका फल····पापका फल !

[परदा]